# साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

संपादक

डॉ० कलानाथ मिश्र

# साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

वर्ष-1 अंक-1 अप्रैल-जून 2014

**परामर्शी**

डॉ० सूर्य प्रकाश दीक्षित
डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव
डॉ० शोभाकांत मिश्र
डॉ० रामशोभित प्रसाद सिंह
डॉ० संजीव मिश्र

**सम्पादकीय सलाहकार**
श्री आशीष कंधवे

**सहायक संपादक**
डॉ० रवीन्द्र पाठक

**संपादक**
**डॉ० कलानाथ मिश्र**

साहित्य यात्रा में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार एवं दृष्टिकोण संबंधित लेखकों के हैं जिनसे संपादक, प्रकाशक, मुद्रक एवं पत्रिका से जुड़े किसी भी व्यक्ति का सहमत होना अनिवार्य नहीं है। सभी विवादों का निपटारा पटना क्षेत्र के अन्तर्गत सीमित है। पत्रिका में संपादन से जुड़े सभी पद गैर-व्यावसायिक एवं अवैतनिक हैं।

साहित्य यात्रा
साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

RNI No. BIHHIN05272

(C) सर्वाधिक सुरक्षित
प्रकाशित सामग्री के पुनः उपयोग के लिए लेखक,
अनुवादक अथवा साहित्य यात्रा की स्वीकृति अनिवार्य है।

**संपादकीय कार्यालय**
'अभ्युदय'
ई-112, श्रीकृष्णपुरी
पटना-800001
बिहार

| | | | |
|---|---|---|---|
| मूल्य | : | 45/- | |
| शुल्क दर | : | एक वर्ष (4 अंक) | 180/- |
| | | तीन वर्ष (12 अंक) | 500 |
| | | (डाक खर्च अतिरिक्त) | |
| | | आजीवन सदस्यता | 11,000 |
| | | विदेश के लिए | |
| | | 60 डॉलर (3 वर्ष) | |

शुल्क '**SAHITYA YARTA**' के नाम पर भेजें।

'साहित्य यात्रा' त्रैमासिक डॉ० कलानाथ मिश्र के स्वामित्व में और उनके द्वारा 'अभ्युदय' ई-112, श्रीकृष्णपुरी, पटना-800001, बिहार से प्रकाशित तथा आभा पब्लिसिटी, 163, देशबंधु गुप्त मार्केट, करोलबाग, नई दिल्ली से मुद्रित। स्वामी/संपादक/प्रकाशक/मुद्रक : डॉ० कलानाथ मिश्र।

# अनुक्रम


*संपादकीय*

डॉ० कलानाथ मिश्र / **साहित्यिक सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी** 7-10

*चिंतन*

साहित्यवाचस्पति डॉ०श्रीरंजन सूरिदेव / **दिनकर की दृष्टि में भारतीय संस्कृति** 11-13

*मंथन*

डा.हेतुकर झा / **सांस्कृतिक क्रांति का औचित्य।** 14-19

हरेन्द्र प्रताप /**विश्व कारोबारी भाषा बनने की ओर अग्रसर हिंदी** । 20-25

आशीष कंधवे / **महात्मा गाँधी की भाषा-दृष्टि और वर्तमान का संदर्भः समय का संवाहक-गाँधी।** 26-30

*फिल्म*

विनोद कुमार अग्रवाल / **सौ साल पहले हमें तुमसे प्यार था, आज भी है और कल भी रहेगा।** 31-34

**दृष्टिकोण**

डॉ० मिथिलेश कुमारी मिश्र / **एक ही युग की दो विभूतियाँ ।** 35-40

*आलेख*

डॉ० ब्रजबिहारी पाण्डेय / **कविवर डॉ० नलिन के 'अनन्वय' काव्य में राष्ट्रीयता।** 41-48

डॉ० आशुतोष पार्थेश्वर /**हंदी की आरंभिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित विज्ञापनों में वैज्ञानिक चेतना एवं अंध विश्वास की उपस्थिति।** 49-56

डॉ० रवीन्द्र पाठक / **आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की ऐतिहासिक चेतना।** 57-63

**व्यंग्य**

नरेंद्र कोहली / अमरीकन जांघिया / 64-67

**आलेख**

डॉ० विवेकानन्द पाठक / **मनोविश्लेषणात्मक आलोचना दृष्टि और देवराज उपाध्याय।** 68-72

डा. अरबिन्द कुमार / **एक तिनके की चीख-सी उभरतीमलयज की कविता** । 73-85

**कविता**

**राम दरश मिश्र / जाड़ा : दो कविताएँ**/ आदमी होने की पहचान 86-87

जयप्रकाश मानस / **नदी / चिट्ठी : दो कविताएँ** 88-89

**विशुद्धानंद / अनायास** 90

***लघु कथा***

डॉ० ध्रुव कुमार / **संस्कार** 91

***दलेक्ष ( कवि, अभिनेता से)***

श्रीयुत् जानकीवल्लभ शास्त्री / **तुम्हारी याद** 92-94

**नवांकुर**

**अभिजीत मिश्र ( कविता )** 95

**गतिविधि** 96

✍ डॉ० कलानाथ मिश्र

सम्पादकीय

# साहित्यिक सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

समय अपनी गति से निरंतर चलता रहता है। अपनी निरंतरता में वह समाज, संस्कृति, सभ्यता सबको प्रभावित करता चलता है। उसके प्रभाव से कोई नहीं बचता। वह बिना किसी आहट के दबे पाँव हमारे घरों में घुस जाता है और धीरे-धीरे हमारी सोच को प्रभावित कर देता है। चूँकि हमारा चिंतन काल सापेक्ष है अत: समय के साथ उसमें परिवर्तन स्वाभाविक प्रक्रिया है। इसीलिए तो कहा गया है कि परिवर्तन संसार का नियम है। साहित्य जीवन, समाज तथा उसके उपादानों पर पड़ने वाले समय के उसी प्रभाव या परिवर्तन को पकड़ने तथा उसके निरंतर भागते क्षणों को स्थायी बनाने का माध्यम है। यों तो ज्ञान-विज्ञान के सारे साधन और विषय समय के प्रभाव से जीवन और जगत में हुए परिवर्तनों के अन्वेषण तथा उसके अंकन का प्रयास करते हैं, परंतु काल के आयामों को जितनी सजीवता और सहजता से साहित्य पकड़ पाता है उतना और कोई विषय नहीं। यही कारण है कि साहित्य में निबद्ध जीवन सद्य:नवीन और सदैव प्राणवान होता है। जो स्रष्टा समय के इस परिवर्तन के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्वरूप को जितनी सजगता और संजीदगी से रूपायित करता है वह उतना ही महान होता है। साहित्यकार समाज के केवल गोचर स्वरूप को ही नहीं, अपितु समाज की अंत:चेतना को भी आकार प्रदान करता है। वह साहित्य में सामाजिक यथार्थ का नवसृजन करता है। इस तरह साहित्य अपनी व्यापकता में संस्कृति, धर्म, दर्शन, इतिहास, भूगोल, राजनीति,

अर्थशास्त्र सबको समाहित करते हुए चलता है। जो साहित्य जितना समाज सापेक्ष होगा वह उतना ही सबल होगा। लेकिन समाज की अंत:चेतना को समझकर उसे युगानुरूप परिवर्तित परिवेश के अनुसार परिभाषित करना आसान नहीं होता। इसके लिए साहित्यकार को नई भाषा-भंगिमा तथा नए अर्थसंदर्भों की पड़ताल करनी पड़ती है। समय की सतत परिवर्तनशीलता के कारण साहित्यकार के सामने जीवन और जगत की सार्थकता की तलाश की समस्या सदैव बनी रहती है। यदि सृजनकर्ता अपने समय के जीवन और जगत को नई दृष्टि से नहीं देख पाता, उसे नया अर्थ नहीं प्रदान कर पाता तो उसका सृजनकर्म सार्थक नहीं हो पाता। रचना का अर्थ ही है-कुछ नया करना या बनाना। यदि वह पहले से दिए हुए अर्थ में नवीनता की तलाश नहीं करता है तो उसकी रचना नकल या अनुकरण बनकर रह जाती है। कालिदास से लेकर अज्ञेय तक में हम इसी नई अर्थवत्ता की तलाश देखते हैं। कालिदास ने 'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये' कहकर उसका संकेत दिया तो अज्ञेय ने 'उपमान ये मैल हो गए हैं, देवता इन प्रतीकों के कर गए हैं कूच' कहकर। सारांश यह कि हरेक रचनाकार के सामने जीवन और प्रकृति को नए रूप में प्रस्तुत करना उसकी मौलिक चुनौती है। यही चुनौती उसकी रचनात्मकता को अंजाम देती है और बल भी। 'नई कविता' के सूत्रधार कवि जगदीश गुप्त ने इस चुनौती को 'कवि वही जो अकथनीय कहे' कहकर सामने रखी है।

साहित्य समय के साथ चलते हुए काल की गतिविधियों का लेखा-जोखा लेता चलता है। यह जीवन पर समय के पड़ने वाले प्रभावों का साक्षी होता है। जीवन के समानान्तर साहित्य की भी अपनी यात्रा अनवरत चलती रहती है। इसीलिए यह समय और जीवन दोनों का सहचर कहलाता है। इस संदर्भ में यदि पत्रिकाओं की बात की जाए तो वे ज्यादा समय सापेक्ष होती हैं और समय के साथ कदम से कदम मिलाकर चलती हैं। इसमें तत्कालीन जीवन की गतिविधियों की जितनी सूक्ष्म पकड़ होती है उतनी अन्यत्र नहीं, इसलिए यदि पत्रिकाओं को 'समय का दस्तावेज' कहा जाए तो अनुचित नहीं होगा। समय की उसी पगडंडी पर एक और नए यात्री ने आरंभ करने की कोशिश की है-साहित्य यात्राा। हिन्दी की श्रीवृद्धि और पठन अभिरुचि के विकास में लघु पत्रिकाओं का योगदान अतुलनीय है। अक्षर की दुनिया का विस्तार तो जरूरी है। इसी जरूरत की पूर्ति में एक और अक्षर के योग के लघु प्रयास का नाम है **'साहित्य यात्रा'**।

पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ तो बहुत प्रकाशित होती रहती हैं पर उनमें से अधिकांश काल के गाल में समा जाती हैं। सभी रचना कालजयी नहीं हो सकती। फिर भी रचनाकर्म

के श्रम की सराहना तो होनी ही चाहिए।

एक बात और, वो यह कि आज के साहित्य में शहर अधिक घर कर गया है। लोग बेतहाशा शहर की ओर भाग रहे हैं। किसानी में अब पहले वाला आत्मसम्मान का भाव कहाँ? गाँव उजड़ रहे हैं। खेती की जमीन रोज-बरोज कम होती जा रही है। किसान के बच्चे अब मजूरी करने में शर्म नहीं महसूस करते। पर आज भी देश की सत्तर प्रतिशत आबादी गाँवों में ही निवास करती है। साहित्यकारों का यह दायित्व बनता है कि वे गाँव की समस्याओं को अपने साहित्य में जगह दें ताकि प्रेमचंद का संघर्ष खाली न जाए। ताकि अबकी बार गोबर जब शहर से गाँव आए तो उसे सारा गाँव अंधकार में नहीं दिखे, निराशा में डूबा नहीं दिखे, गाँव के लोग रोनी सूरत बनाए न दिखें, ऐसा न लगे कि उनके प्राणों की जगह वेदना ही बैठी है। गाँव के अंधेरे को साहित्य में रौशनी मिलनी चाहिए। आज के साहित्य को और अधिक लोकोन्मुख होना होगा।

साहित्य यात्रा का यह प्रवेशांक है। बहुत कुछ मन में चलता रहा, विगत कई वर्षों से। अंततः यह जोखिम उठा ही लिया। जितनी योजनाएँ बना रखी थीं सब कार्यान्वित नहीं हो सकीं। फिर भी पत्रिका जैसी बन सकी, आपके हाथ में है। शोध आलेखों के अतिरिक्त इस अंक में हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ रचनाकार एवं प्रसिद्ध उपन्यासकार नरेन्द्र कोहलीजी का व्यंग्य एवं देश के प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ. हेतुकर झा तथा साहित्यवाचस्पति डॉ. श्री रंजन सूरिदेवजी का चिंतन परक आलेख संकलित है।

शोधपूर्ण आलेखों में वरिष्ठ पत्रकार एवं प्रखर कवि हरेन्द्र प्रताप, आधुनिक साहित्य के संपादक आशीष कंधवे, राष्ट्रभाषा परिषद् पत्रिका की संपादिका डॉ. मिथिलेश कुमारी मिश्र, डॉ. ब्रज बिहारी पाण्डेय, डॉ० आशुतोष पार्थेश्वर, डॉ० रवीन्द्र पाठक, डॉ० विवेकानंद पाठक आदि की रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं। भारतीय सिनेमा जगत के विकास और स्वरूप पर विनोद कुमार अग्रवाल का शोधपूर्ण आलेख भी प्रभावशाली है।

साहित्य यात्रा में 'दस्तावेज' नाम से एक स्थायी स्तंभ की शुरुआत की जा रही है। इस स्तंभ के अंतर्गत कीर्तिशेष पत्रिकाओं से कालजयी रचनाओं का पुनर्प्रकाशन किया जाएगा। मेरा उद्येश्य है कि आज की पीढ़ी उन रचना और रचनाकारों, उनके चिंतन-लेखन से रू-ब-रू हो सके। इस स्तंभ का आरम्भ हम आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्रीजी की एक कविता 'तुम्हारी याद' से कर रहे हैं। यह कविता अजंता प्रेस, पटना से लक्ष्मी नारायण सुधांशुजी द्वारा संपादित पत्रिका 'अवन्तिका' के मई, 1953 के अंक में प्रकाशित हुई थी।

इस अंक के 'कविता' नामक स्तंभ में हिंदी के सुप्रसिद्ध रचनाकार श्री रामदरश मिश्र तथा 'सृजनगाथा' के संपादक श्री जयप्रकाश मानस एवं श्री विशुद्धानंद की कविताएँ प्रकाशित की गई हैं। हमने 'नवांकुर' नाम से एक स्थायी स्तंभ की भी शुरुआत की है जिसमें नवीन एवं उदीयमान रचनाकारों की रचनाएँ प्रकाशित की जाएँगी। इस स्तंभ में इसबार अभिजीत की कविता है। 'लघुकथा' नामक स्तंभ में डॉ० ध्रुव कुमार की लघुकथा प्रस्तुत की गई है। इस पत्रिका में जगह-जगह पर राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर घटित विशिष्ट समसामयिक साहित्यिक हलचलों और गतिविधियों पर संक्षिप्त टिप्पणी भी प्रस्तुत करने का हमने प्रयास किया है।

एक महत्वपूर्ण बिन्दु का उल्लेख मैं अवश्य करदेना चाहूँगा। 15 मई को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की 150वीं जयंती है। खड़ी बोली को काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने न केवल भाषा का संस्कार किया था, बल्कि एक साहित्यिक आदर्श की स्थापना भी की। जिसप्रकार उन्होंने गद्य और पद्य की भाषा को एक करने का अथक और भगीरथ प्रयास किया उसका हिंदी साहित्य सदैव ऋणी रहेगा। उनके द्वारा 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन 'पत्रिका और उसके संपादन' का स्वयं में एक अप्रतिम उदाहरण है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की 150वीं जयंती पर 'साहित्य यात्रा' का प्रवेशांक निकालना उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने का एक लघु प्रयास है।

'साहित्य यात्रा' का प्रवेशांक सुधी पाठकों एवं विद्वज्जनों के समक्ष प्रस्तुत है। आशा है, हिंदी साहित्य-संसार में इस नए आगंतुक का उदार हृदय से स्वागत करेंगे तथा अपने अमूल्य सुझावों और टिप्पणियों से हमें अवगत कराएँगे।

# *दिनकर की दृष्टि में भारतीय संस्कृति*

● **साहित्यवाचस्पति डॉ०श्रीरंजन सूरिदेव**

हिन्दू-संस्कृति ही भारत की मूल संस्कृति है, जिसकी पाचन-शक्ति बड़ी प्रचण्ड है। दिनकरजी की मान्यता है कि आर्य जब भारतीय संस्कृति का निर्माण करने लगे तब उनके समक्ष अनेक जातियों को एक संस्कृति में पचाकर समन्वित करने का प्रश्न था, इसलिए उन्होंने आरम्भ से ही हिन्दू-संस्कृति का ऐसा लचीला रूप पसन्द किया, जो विभिन्न संस्कृतियों का एक नवीन समन्वित रूप बने और विभक्त में अविभक्त की समेकित स्थिति हो।

दिनकरजी मूलत: इतिहास के विद्यार्थी थे किन्तु जब वह काव्य-रचना और निबंध-लेखन की ओर मुड़े, तबसे इतिहास से उनका संबंध प्राय: छूट-सा गया। जब वह लंगट सिंह कॉलेज, मुजफ्फरपुर में हिन्दी के प्राध्यापक नियुक्त हुए, तब छात्रों को साहित्य पढ़ाने के क्रम में साहित्य की सामासिक (कम्पोजिट) पृष्ठभूमि को समझाने के लिए पुन: एकबार उन्हें इतिहास की गहराई में उतरना पड़ा और उन्होंने भारतीय सांस्कृतिक जागरण के इतिहास का गहन अध्ययन किया। फलत: उनके समक्ष यह तथ्य स्पष्ट हुआ कि भारतीय संस्कृति का इतिहास चार बड़ी सांस्कृतिक क्रांतियों का इतिहास है।

पहली सांस्कृतिक क्रांति तब हुई, जब आर्य और आर्येतर जातियों का परस्पर संपर्क हुआ। दिनकरजी के मत से आर्य और आर्येतर संस्कृतियों के मिलन से जो विशिष्ट संस्कृति उत्पन्न हुई, वही भारत की बुनियादी संस्कृति बनी। दूसरी सांस्कृतिक क्रांति तब हुई, जब महावीर और गौतम बुद्ध ने पूर्व-स्थापित धर्म या संस्कृति के विरुद्ध विद्रोह किया तथा औपनिषदिक चिंताधारा को अपनी अभिवांछित दिशा की ओर ले गये।

तीसरी सांस्कृतिक क्रांति तब हुई, जब विजेताओं के धर्म के रूप में इस्लाम भारत पहुँचा और उसका संपर्क हिन्दुत्व से हुआ। और फिर, चौथी सांस्कृतिक क्रांति तब हुई, जब भारत में अँगरेजों का आगमन हुआ और हिन्दुत्व एवं इस्लाम, दोनों का संपर्क ईसाइयत से हुआ।

निष्कर्ष रूप से दिनकरजी का यह मानना है कि हिन्दू-संस्कृति मूलत: वैदिक संस्कृति है, जो वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियों के मिलन से अस्तित्व में आई है।

भारतीय संस्कृति का विश्लेषण करते हुए दिनकरजी ने अपने 'संस्कृति के चार अध्याय' नामक ग्रंथ में लिखा है कि सभ्यता यदि संस्कृति का आधिभौतिक पक्ष है तो भारत में इस पक्ष का अधिक विकास आर्यों ने किया है। किन्तु, जब आर्यों का यज्ञवाद भोगवाद का पर्याय बनने लगा और अमिषप्रियता से प्रेरित ब्राह्मण जीवहिंसा को धर्म मानने लगे, तब इस देश की संस्कृति यज्ञ और जीवघात दोनों से विद्रोह कर उठी। महावीर और बुद्ध जीवहिंसा-रहित निवृत्तिवादी भारतीय सनातन संस्कृति के उद्घोषक थे। इनके द्वारा प्रवर्त्तित क्रमशः जैन और बौद्ध मतों से निवृत्तिवादी विचारधारा को अतुलशक्ति प्राप्त हुई।

भारत में संस्कृतियों का जो विराट् समन्वय हुआ, उसमें रामकथा की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। दिनकरजी कहते हैं- इस कथा ने सर्वप्रथम भौगोलिक सार पर भारत की एकरूपता स्थापित की। इस कथा में अयोध्या से श्रीलंका तक सारा देश एक दिखाई पड़ता है। इस कथा पर भारत की प्रमुख भाषाओं में रामायणों की रचना हुई, जिनमें प्रत्येक अपने-अपने क्षेत्र में लोकप्रिय हुई एवं जिनके कारण भारतीय संस्कृति की एकरूपता में अतिशय वृद्धि हुई।

हिन्दू-संस्कृति ही भारत की मूल संस्कृति है, जिसकी पाचन-शक्ति बड़ी प्रचण्ड है। दिनकरजी की मान्यता है कि आर्य जब भारतीय संस्कृति का निर्माण करने लगे तब उनके समक्ष अनेक जातियों को एक संस्कृति में पचाकर समन्वित करने का प्रश्न था, इसलिए उन्होंने आरम्भ से ही हिन्दू-संस्कृति का ऐसा लचीला रूप पसन्द किया, जो विभिन्न संस्कृतियों का एक नवीन समन्वित रूप बने और विभक्त में अविभक्त की समेकित स्थिति हो।

कहने के लिए हिन्दू, मुस्लिम सिख, ईसाई आदि अनेक जातियाँ हैं, परन्तु आर्य-संस्कृति की दृष्टि से वे सभी भारतीय हैं, सम्पूर्ण भारतीयता के प्रतीक हैं। अनेक संस्कृतियों और जातियों के मिलन से निर्मित भारतीय संस्कृति का सारा विश्व प्रशंसक रहा है; क्योंकि अनेक जातियों, धर्मों, वादों और विचारों के बीच एकता लाने का यह विश्वजनीन प्रयास भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता रही है।

दिनकरजी की दृष्टि में पुरातन और नवीन के बीच समन्वय का सन्धान भारतीय संस्कृति की अपनी पहचान है। भारतीय संस्कृति पश्चिमी ज्ञान के श्रेष्ठ अंश का सामंजस्य अपने ज्ञान से बिठाने की चेष्ट करती आई है। एक हाथ में धर्म का कमल और दूसरे में विज्ञान की मशाल, यही वह कल्पना है, जिसे चरितार्थ करते हुए भारत अपनी संस्कृति को विश्वजनीन बनाने के उद्देश्य की परिपूर्त्ति के लिए प्रयत्नशील रहा है।

भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में दिनकरजी की स्पष्ट अवधारणा है कि भारतवर्ष वस्तुतः हिन्दुओं का ही देश है। इस देश की संस्कृति अपनी व्यापक विशिष्टताओं के साथ हिन्दू-संस्कृति ही समझी जाती है। भारतीय संस्कृति की जो विशिष्टताएँ हैं, वे उसे विश्व

की अन्य संस्कृतियों से विभक्त करती हैं, वे केवल हिन्दुओं में ही नहीं हैं, बल्कि उनका पूरा प्रभाव भारतवासी मुसलमान, सिख, ईसाई आदि जातियों पर है।

हिन्दू संस्कृति को वैदिक संस्कृति का पर्याय मानते हुए दिनकरजी 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखते हैं कि आर्य, द्रविड़ और अन्य जातियों के लोग जब एक भारतीय समाज के अंग बन गये, तब उनकी आदतें और विश्वास भी परस्पर मिलकर एकाकार हो गये। विभिन्न प्रकार के लोगों के समघट्ट हो जाने से जो जनवर्ग तैयार हुआ, वही हिन्दू जाति का बुनियादी सदस्य हुआ और विभिन्न जातियों की आदतों, विश्वासों, दन्तकथाओं, विचारों, भावनाओं और रीति-रिवाजों के मिल जाने से जो संस्कृति उत्पन्न हुई, वही वैदिक या हिन्दू-संस्कृति का मूलाधार हुई।

भारतीय संस्कृति में भारत का शाश्वत अतीत सदैव विद्यमान रहता है। इसपर दिनकरजी की वैचारिकी यह है कि आज से तीन हजार वर्ष पूर्व भारतीय संस्कृति का जो रूप था, आज भी मूलतः वह वैसा ही है। मिस्र, बेबिलोन और यूनान में भी प्राचीन सभ्यताएँ थीं, किन्तु काल ने उन्हें ध्वस्त कर दिया। केवल भारत ही एक ऐसा देश है, जिसका अतीत कभी मरा नहीं। वह बराबर वर्त्तमान के रथ पर चढ़कर भविष्य की ओर चलता रहा है। भारत का अतीत कल भी जीवित था, और आज भी जीवित है, कदाचित् आगे भी जीवित रहेगा।

दिनकरजी का विश्वास है कि जबतक भारतीय संस्कृति अक्षुण्ण रहेगी, उसकी सामाजिकता या समन्वयवादिता बरकरार रहेगी, तबतक भारत की एकता और स्वतंत्रता भी अनाहत रहेगी। दिनकरजी ने सामाजिक संस्कृति या सांस्कृतिक एकता की भूमिका को महत्त्वपूर्ण माना है, इसलिए भारतीय संस्कृति के उन्नयकों का पहला कर्त्तव्य है कि वे प्राणपण से राष्ट्रीय एकता की रक्षा करें। उन्होंने इस राष्ट्रीय एकता की दृढ़ता के लिए अनिवार्य राष्ट्र-रक्षा को अधिक मूल्य दिया है। भारतीय संस्कृति स्वाधीनता को अधिक महत्त्व देती है। स्वाधीनता केवल भौतिक चरमोत्कर्ष नहीं है, अपितु स्वाधीनता का वास्तविक अर्थ आत्मा की वह स्वतंत्रता, मानस की वह निर्बन्धता है, जिसके कारण राष्ट्र अपने व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करता है।

दिनकरजी ने निष्कर्ष रूप में कहा है कि भारतीय संस्कृति में आशावाद या आस्थावाद उद्दाम रूप से प्रवाहित है। जबतक भारत का अतीत जीवित रहेगा, भारतीय संस्कृति शाश्वत बनी रहेगी। भारतीय संस्कृति एक महासागर की तरह है, जिसमें अनेक संस्कृतियाँ विलीन होकर एकरूप हो गई हैं।



शुभैषणा, श्रीनगर कॉलोनी, पंचवटी नगर के निकट, संदलपुर, पो०-महेन्द्रू, पटना-800006, दूरभाष: 0612-6590145

# *सांस्कृतिक क्रांति का औचित्य*

● **हेतुकर झा**

*मोड ऑफ प्रोडक्शन* और संस्कृति एक दूसरे में अन्तर्निहित रहते हैं। टामसन इस तरह संस्कृति को समाज और इतिहास दोनों की धुरी मानते हैं, जिसमें *मोड ऑफ प्रोडक्शन* अन्तर्निहित रहता है। सांस्कृतिक परिवर्तन में *मोड ऑफ प्रोडक्शन* का भी परिवर्तन होता है, जिससे समाज और इतिहास की भी दिशा बदलती है।

एक पुराने कट्टर भारतीय बामपंथी अगर यह महसूस करता है कि देश में जिस तरह की राजनीति जड़ पकड़ रही है, जिस तरह विभिन्न समुदायों के बीच सामाजिक संबंध ध्वस्त हो रहे हैं, जिस प्रकार सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों का हनन हो रहा है, और जैसे देश और समाज का विकास अवरुद्ध हो रहा है, इन सबका निराकरण सांस्कृतिक क्रांति से ही संभव है, तो यह निश्चय जान पड़ता है कि उसे अपने जीवन के लंबे संघर्ष से जो अनुभूति हुई, जो सूझ मिली, उसी से प्रेरित होकर वह देश और देश की जनता के समक्ष सांस्कृतिक क्रांति का आह्वान लेकर उपस्थित हुआ है।

श्रीचतुरानन मिश्र अपने जीवन के आरम्भकाल से ही संघर्षरत रहे हैं। आजादी की लड़ाई के दिनों में पढ़ाई छोड़कर आन्दोलन में लगे रहे। बाद में झारखंड में मजदूरों के लिए जूझते रहे। बामपंथी राजनीति में आगे बढ़े, राष्ट्रीय स्तर के पदों पर रहे और जहाँ भी रहे अपने अन्तःकरण की भावना से न्यायोचित, तर्कसंगत विचारों के लिए संघर्षशील रहे। सफल भी रहे, कभी असफल भी रहे। प्रायः इस संघर्षमय मानसिकता से इनकी सूझ पैनी होती गई। इसी सूझ का एक परिणाम है कि ये सांस्कृतिक क्रांति को अब अनिवार्य मानते हैं।

यहाँ आवश्यक है कि सांस्कृतिक क्रांति या आन्दोलन या संघर्ष के सैद्धान्तिक औचित्य पर कुछ विचार करें। बीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध बामपंथी चिन्तकों में ई० पी० टॉमसन का प्रमुख स्थान रहा है। 1977 ई० में छपे अपने एक

लेख ('फोकलोर, एन्थ्रोपोलोजी एण्ड सोशल हिस्ट्री', द *इंडियन हिस्टोरिकल रिव्यू*, वॉल्यूम-III, सं० 2, 1977, पृ०-247-266) में इन्होंने कहा कि संस्कृति नहीं तो उत्पादन नहीं और उत्पादन नहीं तो इतिहास नहीं। यहाँ संस्कृति से उनका मतलब किसी खास वर्ग की संस्कृति से नहीं है। यह संस्कृति पूरे समाज के मूल्यों, परम्पराओं, रस्म-रिवाज इत्यादि से है जिसके चलते मानवीय जीवन का और जीने के लिए आवश्यक भौतिक उपायों का पुनः उत्पादन होता रहता है। *मोड ऑफ प्रोडक्शन* और संस्कृति एक दूसरे में अन्तर्निहित रहते हैं। टामसन इस तरह संस्कृति को समाज और इतिहास दोनों की धुरी मानते हैं, जिसमें *मोड ऑफ प्रोडक्शन* अन्तर्निहित रहता है। सांस्कृतिक परिवर्तन में *मोड ऑफ प्रोडक्शन* का भी परिवर्तन होता है, जिससे समाज और इतिहास की भी दिशा बदलती है। इससे बहुत पहले 1920 के दशक में एक दूसरे प्रसिद्ध मार्क्सवादी चिन्तक जार्ज लुकाक्ष ने अपनी पुस्तक *हिन्ट्री एण्ड क्लास कन्शसनेस* में यह बात स्पष्ट की थी कि पूंजीवादी समाज के पूर्व के समाजों में आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक सारे आयाम एक दूसरे से ऐसे गुंथे हुए रहते हैं कि किसी एक का दूसरे से अलग अस्तित्व नहीं बन पाता। इस बात की पुष्टि बाद में मार्क्सवादी मानव-शास्त्रियों ने, खासकर गोदेलियर ने की। ऐसी स्थिति में टामसन के संस्कृति संबंधी उपर्युक्त विचार बहुत ही महत्वपूर्ण लगते हैं। यदि समाज के सारे आयाम एक दूसरे से अभिन्न हैं और समाज की सारी प्रक्रियाएँ एक पारम्परिक तंत्र से निर्धारित होती हैं तो उस पारम्परिक तंत्र की पहचान संस्कृति से होती है। उस संस्कृति के तहत आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, सारी प्रक्रियाएँ निर्धारित होती हैं और उनके क्रम चलते रहते हैं। बीसवीं सदी के ही एक और प्रसिद्ध बामपंथी चिन्तक अल्थूस्सर हुए हैं जिन्होंने संस्कृति शब्द के बजाय *आडियोलोजी* शब्द का प्रयोग किया है (इस संदर्भ में देखें: टेड बेंटन, द *राइज एण्ड फॉल ऑफ स्ट्रक्चरल मार्क्सिज्म*, मैकमिलन, 1984)। इनके अनुसार हर समाज में निश्चित रूप से किसी न किसी तरह की *आडियोलोजी* रहती है जिसके चलते मनुष्य को बनाया-सँवारा जाता है ताकि वह जीने की शर्तों-उपायों का समाधान कर सके। अल्थूस्सर इस बात को स्पष्ट करते हैं कि समाज के एक वर्ग का दूसरे वर्ग से असमानता, या प्रभुत्व का संबंध *आडियोलोजी* द्वारा स्थापित होता है। परिवार, स्कूल एवं अन्य संस्थाएँ उस समाज या राज्य की *आडियोलोजी* के उपकरण हैं जिनके द्वारा सामाजिक और आर्थिक भेदभाव, ऊँच-नीच, इत्यादि का समाजीकरण पारम्परिक रूप से स्वभावतः हो जाता है। अगर किसी समाज की ऐसी संरचना है और उसमें ऐसी प्रक्रियाएँ हो रही हैं जो उस समाज के भविष्य

के लिए उचित नहीं हैं तो ऐसी स्थिति में उस समाज की *आडियोलोजी* के विरुद्ध एक *आडियोलोजिकल* संघर्ष करना ही, अल्थूस्सर के अनुसार, असल मायने में सफलता दे सकती है।

*आडियोलोजी* संस्कृति की अवधारणा के अंतर्गत ही मानी जाती है, खासकर जिस अर्थ में टामसन ने इसका प्रयोग किया। अल्थूस्सर के तर्क बड़े ही सटीक हैं और इस तर्क के आधार पर टामसन द्वारा प्रयुक्त शब्द संस्कृति से सांस्कृतिक संघर्ष/क्रांति की बात *आडियोलोजिकल* संघर्ष के संदर्भ में कर सकते हैं। चतुरानन मिश्र ने समाज में फैल हुए जातिवाद, साम्प्रदायिकतावाद और इससे प्रभावित राजनीति तथा राजनीतिक तंत्रों में भ्रष्टाचार का मुद्दा मुख्यतः उठाया है। देश में व्याप्त इन आवेगों के पीछे एक *आडियोलोजी* है जिससे इन्हें ताकत मिलती है, जिसके चलते इन्हें किसी-न-किसी रूप से उचित समझा जाता है और ये दिन-ब-दिन भयावह रूप धारण कर रहे हैं।

मिश्राजी इसी *आडियोलोजी* के खिलाफ सांस्कृतिक क्रांति की बात करते हैं, और यह सैद्धान्तिक दृष्टि से उचित और अत्यावश्यक जान पड़ता है। लेकिन यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि किस *आडियोलोजी* के तहत सम्प्रदायवाद और जातिवाद की ताकत बढ़ रही है तथा उसके खिलाफ अगर सांस्कृतिक क्रांति की बात करते हैं तो ऐसी क्रांति के *आडियोलोजिकल* आधार क्या हैं, या क्या हो सकते हैं? यहाँ पहले जातिवाद और सम्प्रदायवाद के *आडियोलोजिकल* आधार की संक्षिप्त विवेचना आवश्यक है।

अंग्रेजों के आने से पहले, यानी उपनिवेशकाल प्रारम्भ होने से पहले इतिहासकारों का मानना है कि सम्प्रदायवाद और खासकर हिन्दू सम्प्रदायवाद का समाज में कोई स्थान नहीं था। कभी-कभार कहीं कोई छिटपुट घटना इस संदर्भ में भले ही हुई हो, मगर जिस रूप में आज इसे हम जानते हैं वह कभी मौजूद नहीं था। इस तरह के सम्प्रदायवाद का जन्म ही उपनिवेशकाल में अंग्रेजों के शासन के अधीन हुआ। (उदाहरण के लिए देखें: ज्ञानेन्द्र पांडेय, द *कन्सट्रक्शन ऑफ कम्यूननिज्म इन कोलोनियल नार्थ इंडिया*, ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1990।) जातिवादी संस्थाओं का जन्म भी इसी काल में हुआ। जातिवादी चेतना का इसी समय में विकास हुआ और जातीय चेतना का उपयोग राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए अंग्रेजी राज्यकाल में ऐसी कौन सी *आडियोलोजी* स्थापित की गई जिसके तहत हिन्दू सम्प्रदायवाद और जातिवाद का जन्म हुआ और उसका विकास होने लगा। हाल में प्रसिद्ध इतिहासकार निकोलस बी० डर्क्स ने उपनिवेशकालीन दस्तावेजों और यूरोप के तत्कालीन विद्वानों द्वारा भारत के इतिहास, धर्म, समाज, इत्यादि विषयों पर लिखे गये लेखों एवं पुस्तकों का अध्ययन

कर एक पुस्तक प्रस्तुत किया है (देखें: *कास्ट्स ऑफ माइन्ड*, परमानेन्ट ब्लैक, दिल्ली, 2002)। इनके अनुसार 1858 ई० तक आते-आते अंग्रेजों ने अपने राजनीतिक स्वार्थ को ध्यान में रखकर हिन्दुत्व की एक नई अवधारणा तैयार की और इसी अवधारणा के अनुसार वे अपने प्रशासनिक कार्यक्रम को भी आगे बढ़ाते गये। इस अवधारणा के अनुसार जाति व्यवस्था को हिन्दुत्व का सबसे महत्वपूर्ण आधार माना गया, हिन्दुओं के अस्तित्व को उनके जातीय अस्तित्त्व से ही समझने की बात मानी गई। अल्फ्रेड ल्याल और ओ मैली जैसे प्रशासकों ने हिन्दुत्व के लिए 'ब्राह्मणवाद' शब्द का प्रयोग शुरू कर दिया।

यहाँ जरा इतिहास की ओर झाँकें कि अंग्रेजों के आने से पहले हिन्दुत्व की क्या अवधारणा समाज में थी। वैसे तो अरब लोग 8-9वीं सदी से 'हिन्दू' शब्द का व्यवहार यहाँ के लोगों के लिए करते थे, लेकिन यहाँ के वैदिक-सनातन धर्म के अनुयायिओं ने अपने लिए 'हिन्दू' अस्मिता का प्रयोग प्राय: 13वीं सदी से प्रारंभ किया। हिन्दुओं द्वारा अपने लोगों के लिए हिन्दु शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 14वीं सदी में तैयार किये गये *पृथ्वीराजरासो* और विद्यापति लिखित *कीर्त्तिलता* में मिलता है। इस तरह हम कह सकते हैं कि सनातन धर्म का 'हिन्दू' अवतार मध्ययुग में हुआ। यह समाज था जब एक ओर भारत में पैदा हुए विभिन्न धार्मिक मतों में एक दूसरे से वैचारिक स्तर पर स्पर्धा चल रही थी और दूसरी ओर इस्लाम की राजनीतिक तथा धार्मिक ताकत इनके विरुद्ध बढ़ रही थी। विद्यापति ने दंडनीति विषय पर संस्कृत में लिखी अपनी पुस्तक '*पुरुष परीक्षा*' में इसका विवरण दिया और इस संकटकालीन स्थिति में बहुधार्मिक परिवेश में धर्म क्या है?-यह प्रश्न स्पष्ट शब्दों में उठाया। विद्यापति उत्तर भारत के प्रथम चिन्तक थे जिन्होंने यह प्रश्न उठाया और इसका उसी पुस्तक में समाधान भी दिया (देखें: हेतुकर झा, *मैन इन इन्डियन ट्रेडिशन: विद्यापतिज डिसकोर्स ऑन पुरुष*, आर्यन बुक्स इंटरनेशनल, नयी दिल्ली, 2002)। इनके अनुसार धर्म के दो ही अंग हैं। एक, अपने कुलाचार का निर्वाह करना, और दूसरा, साधारण धर्म का निर्वाह करना। साधारण धर्म के अंतर्गत सिर्फ तीन बातें हैं, परस्त्री और परद्रव्य से अपने को दूर रखना तथा परहिंसा नहीं करना। कुलाचार निर्वाह का मतलब है अपने-अपने परिवार में चली आ रही धार्मिक-परम्परा का यथाशक्ति निर्वाह करना। वास्तव में धर्म या धार्मिक आचारों, कर्मकाण्डों को परिवार की परिधि के भीतर रखा गया यानी उसका निजीकरण किया गया और समाज में एक-दूसरे के साथ व्यवहार में साधारण धर्म को माना गया। जाति-वर्ण की कोई चर्चा नहीं की गई; इससे जुड़े आचारों को

कुलाचार के अन्दर ही समेट दिया गया अर्थात् जाति-वर्ण विचार को धर्म के संदर्भ में नगण्य माना गया। हिन्दू धर्म को बहुधार्मिक परिवेश में जीने के लिए विद्यापति, जो न केवल मैथिली के एक महान कवि थे, बल्कि दण्डनीति/राजनीति के महान चिन्तक भी थे, ने हिन्दुत्व का यही सैद्धान्तिक आधार स्थापित किया। इनका प्रभाव उस समय बंगाल, उड़ीसा और आसाम तक हुआ। इनके बाद नानक, कबीर, चैतन्य आदि ने जाति-वर्ण को नगण्य माना। भक्तिकाल में पूरी तरह जाति-वर्ण को धर्म के संदर्भ में कोई महत्त्व नहीं दिया गया। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में बुकानन ने अपने सर्वेक्षण के दौरान बिहार के जिलों में वैष्णव, कबीर पंथ, नानकशाही, अघोरपंथ इत्यादि, जो जाति-वर्ण को महत्व नहीं देते हैं, के अनुयायिओं को असंख्य तादाद में पाया। आठरहवीं सदी में एक मुसलमान दर्जी द्वारा चलाये गये *दरया पंथ* के अनुयायियों में बुकानन ने उच्च जातियों के लोगों को भरपूर संख्या में देखा। यहाँ यह मान सकते हैं कि धर्मशास्त्रों में ज्यादा जातिगत भेदभाव की बात बढ़ रही थी, कर्मकांडों में धार्मिक रूढ़िवाद भी प्रायः बढ़ रहा हो, लेकिन ये सारे ज्यादा-से-ज्यादा ब्राह्मण या उच्च जाति समूह तक सीमित थे। इसके अतिरिक्त वर्गों में भक्ति मार्गों या लोकायत के विभिन्न मार्गों का बोलबाला था और ये सब जाति-वर्ण के खिलाफ थे (इस संदर्भ में देखिये: देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, *लोकायत,* पिपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1959)। उच्च जाति-समूह में और खासकर ब्राह्मण वर्गों में सारी धार्मिक संकीर्णता का निर्वाह करने के लिए कुलाचार ही माध्यम था और समाज में साधारण धर्म का महत्त्व था। ऐसी स्थिति में डर्क्स लिखते हैं कि उपनिवेश काल से पहले के भारत में सामाजिक अस्मिता के कई आधार थे, जैसे, गाँव, इलाका, कौलिक समूह, राज प्रमुखों की गुटबंदी, उनके अनुयायियों का समूह इत्यादि, और इन्हीं में एक जाति भी थी जिसकी अस्मिता किसी और अस्मिता के आगे दबी भी रह सकती थी (देखें: निकोलस बी० डर्क्स, पूर्व उद्धृत)। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि अंग्रेजों के शासन से पहले हिन्दू धर्म की *आडियोलोजी* में जाति-वर्ण विचार थे, लेकिन उनका महत्व समाज में नगण्य था; धर्म का समावेश मूलतः परिवार की परिधि के भीतर था, और समाज में साधारणधर्म के रहने से बहुधार्मिक सामंजस्य में कोई विडम्बना नहीं थी।

अंग्रेजी शासन काल में हिन्दू धर्म के इस *आडियोलोजिकल* आधार को मूल रूप से हटाया गया। इसे ब्राह्मणवाद की संज्ञा दी गई, और जाति को हिन्दुओं की सर्वश्रेष्ठ, सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक अस्मिता मानी गई। अन्य अस्मिताओं को, जिनकी चर्चा डर्क्स ने की है, नगण्य माना गया।

1871-72 ई० से जनगणना शुरू हुई। लोगों के जीवन और संस्कृति की जानकारी के लिए एथ्नोलौजिकल सर्वेक्षण प्रारम्भ हुआ। इसमें जाति को ही प्रमुख आधार माना गया। नतीजा यह हुआ कि जातिगत चेतना की भरपूर वृद्धि होने लगी। पहली जातीय संस्था 1887 में स्थापित हुई और इसके बाद बीसवीं सदी के आरम्भ के दिनों तक कई जातियों की जातीय संस्थाएँ बन गईं। ये संस्थाएँ शुरू में अपनी-अपनी जातियों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति को सुधारने, जाति व्यवस्था में अपना स्थान उच्च करने, इत्यादि कार्यों में लगीं, फिर इनका प्रवेश राजनीति में हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी जाति का महत्व सर्वोपरि रहा। इसी को आधार बनाकर आरक्षण का प्रावधान हुआ। फिर मंडल कमीशन के लागू होने से तो जाति का महत्व और आकाश छूने लगा। जातिवाद से समाज की क्या स्थिति हुई है यह मिश्रजी पर्याप्त शब्दों में लिख चुके हैं। यही क्रम सम्प्रदायवाद का भी रहा जो आजकल की घटनाओं से स्पष्ट है।

जातिवाद और सम्प्रदायवाद संकीर्णतावाद के पहलू हैं। इनके बीज हिन्दुत्व के ब्राह्मणवाद की अवधारणा में स्थापित हैं। ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यदि एक तरफ कोई जातिवाद मानता है और सम्प्रदायवाद को हटाना चाहता है तो वह भ्रम में है। जातिवाद को मानना ब्राह्मणवाद को मानना है और इसे मानने से सम्प्रदायवाद को भी मान्यता मिलती है, इसलिए जबतक पूरा सिक्का नहीं बदलेगा तबतक जातिवाद और सम्प्रदायवाद में किसी एक का विरोध कारगर नहीं हो सकता। किसी एक का कितना ही विरोध हो, दोनों फलते-फूलते रहेंगे और देश तथा गणतंत्र दोनों की तबाही होती रहेगी। मिश्रजी जब सांस्कृतिक क्रांति की बात करते हैं तब वे प्रायः हिन्दुत्व का यह *आडियोलोजिकल* आधार, जो अंग्रेजों ने स्थापित किया, के खिलाफ क्रांति चाहते हैं ताकि संकीर्णतावाद से समाज को मुक्ति मिले। वैसे इन्होंने अपने लेख में यह नहीं स्पष्ट किया है कि संकीर्णतावादी *आडियोलोजी* को हटाकर कौन-सी *आडियोलोजी* का आधार स्थापित करना चाहिए। ऊपर अंग्रेजों के आने से पहले हमारे अपने समाज के संतों और राजनीति-मर्मज्ञों द्वारा स्थापित हिन्दुत्व की *आडियोलोजिकल* धारणा के बारे में लिखा गया है जो पर्याप्त उदारवादी है। इसे भी सांस्कृतिक क्रांति के लिए अपनाया जा सकता है या फिर कोई अन्य, उचित *आडियोलोजिकल* आधार बनाने की बात हो सकती है। भारत के बहुधार्मिक समाज में हिन्दुओं का प्रबल बाहुल्य है, इसलिए अगर इनके बीच कोई सांस्कृतिक क्रांति सफल होती है तो इसका असर अन्य धर्मावलम्बियों पर सगुणात्मक ही होगा।

# विश्व कारोबारी भाषा बनने की ओर अग्रसर हिंदी

*हिंदी पर सिपर्फ भारत का अध्किार नहीं है, बल्कि उन तमाम देशों का अधिकार है जो इस भाषा से सिंचित–विकसित हुए हैं और जो भारतीय चिंतन को भारत की भाषा में समझने के लिए लालायित रहते हैं। जैसे भारत में गैर–हिंदी क्षेत्रा का योगदान हिंदी के विकास में हिंदी क्षेत्रा से अध्कि है, उसी तरह से हिंदी को विश्व भाषा का दर्जा दिलाने के लिए पहल करने में भारत से कम योगदान मॉरीशस, सूरीनाम, अमरीका, ब्रिटेन, हॉलैंड, रूस, जापान आदि का नहीं है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जनभाषा–कारोबारी भाषा के रूप में स्थापित होने की वजह से ही हिंदी को आने वाले दिनों में संयुक्त राष्ट्र की आध्किारिक भाषा के रूप में मान्यता मिल सकती है।*

● हरेन्द्र प्रताप

हिन्दी की एक बड़ी खासियत है। थोड़ा सा अनुकूल अवसर मिलते ही वह पहाड़ी नदी की तरह झर-झर उछलती-कूदती आगे बढ़ जाती है। आज़ादी हासिल होने से लगभग सौ साल पहले और फिर आज़ादी के 65 साल के दौरान हिंदी का विकास इसी तरह अपनी गाथा रचता-बुनता रहा है। देश-विदेश में तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद अनुकूल वातावरण की एक छोटी-सी आशा उसमें एवरेस्ट की ऊँचाई जैसे जोश का संचार भर देती है। देश में राष्ट्रीय राजमार्ग का जाल बुन चुकी अंग्रेज़ी के समकक्ष हिंदी समतल क्षेत्र में पगडंडी पर और पहाड़ी क्षेत्र में ट्रैकिंग करती हुई आगे बढ़ रही है। इस ओर विदेशी उत्सुकता लगातार बढ़ी है। मीडिया के सभी साधनों ने देश-विदेश में हिंदी का परचम लहराने में जी-तोड़ मेहनत की है। समाचार-पत्र, पर्चे, पत्रिका, रेडियो, टेलीप्रिंटर, टेलीविजन, सिनेमा, कम्प्यूटर ने हिंदी की सीमाओं को भूमंडलीय विस्तार दिया है। विशेषकर भारतीय सिनेमा की लोकप्रियता ने हिंदी की सेहत को उन दुर्गम क्षेत्रों में भी बेहतर बनाया है, जहाँ वह लंबे समय से अनजानी बनी हुई थी। बहरहाल, विश्व पटल पर भारत की मज़बूत बनी आर्थिक पकड़ ने हिंदी के लिए अब विश्व कारोबारी भाषा बनने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

पिछले वर्ष हिंदी सिनेमा के दो सदाबहार हीरो देवानंद और शम्मी कपूर भौतिक सृजन-संसार से जुदा हो गए। उनकी फिल्मों के हिंदी संवाद और गानों ने बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में गली-कूचे से लेकर विश्व समारोहों तक में हिंदी को गुंजायमान रखा। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और इक्कीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में दो और भारतीय सितारों अमिताभ बच्चन और शाहरुख खान का जादू हिंदी पट्टी में सिर चढ़ कर बोलता रहा। अभिताभ बच्चन, शाहरुख खान, आमिर खान, संजय दत्त, अक्षय कुमार, सलमान खान, विद्या बालन सरीखे सितारों ने हिंदी को लोकप्रियता दिलाने के साथ-साथ इसके कारोबारी महत्त्व को भी नया रास्ता दिखाया। कारोबार के क्षेत्र में बॉलीवुड की सफलता में हिंदी की भूमिका अविस्मरणीय है। रेडियो तो बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध से ही हिंदी को लगातार लोकप्रिय बना रहा है, लेकिन टेलीविजन ने इक्कीसवीं सदी की शुरुआत में हिंदी की परिधि को बढ़ाने में अधिक योगदान करना शुरू किया है। ताज़ा उदाहरण है-'बिग बॉस' जिसमें एंड्रयू साइमंड्स जैसे ऑस्ट्रेलियाई क्रिकेटर से लेकर अनेक विदेशी मेहमान तक हिंदी रटते-सीखते नज़र आए। ज़ाहिर है कि 'बिग बॉस' जैसे रियलिटी शो और कलर्स सरीखे अन्य चैनलों के लोकप्रिय धारावाहिकों की बड़ी कारोबारी सफलता में हिंदी की भूमिका 'बिग बॉस' की तरह है।

हिंदी अपनी बढ़ती भूमिका निभाने के लिए तैयार है-देश के अंदर और बाहर भी। द इकॉनोमिक टाइम्स और बिजनेस स्टैंडर्ड जैसे अंग्रेजी के सुस्थापित बिजनेस अख़बारों का स्वतंत्र रूप से हिंदी में निकलना एवं सफलता से चलना हिंदी के कारोबारी भाषा के रूप में फूलने-फलने का संकेत है। हिंदी में द इकॉनोमिक टाइम्स तो नयी दिल्ली से प्रकाशित होता है, लेकिन बिजनेस स्टैंडर्ड हिंदी में दिल्ली के साथ-साथ कोलकाता, चंडीगढ़, पटना, भोपाल, मुंबई, रायपुर और लखनऊ से भी निकलता है। बिजनेस स्टैंडर्ड स्वयं को 'भारत का पहला संपूर्ण हिंदी आर्थिक अख़बार' कहलाने का दावा भी करता है। हालांकि हिंदी के तक़रीबन सभी प्रमुख समाचार-पत्र लंबे समय से कारोबारी समाचारों को प्रमुखता देते रहे हैं तथा इसके लिए अलग से पृष्ठ प्रकाशित करते रहे हैं। भारत के प्रमुख हिंदी समाचार-पत्रों की कुछ प्रतियाँ विदेश भी जाती हैं। न सिर्फ़ नयी दिल्ली से प्रकाशित समाचार-पत्र, बल्कि एक समय पटना से मुद्रित 'नवभारत टाइम्स' के बारे में जापान से पाठकों की प्रतिक्रिया आती थी। तब कम्प्यूटर युग का भारतीय प्रिंट उद्योग में उदय हो रहा था। इसमें संदेह नहीं है कि कम्प्यूटर के आगमन ने जहाँ अंग्रेज़ी और विशेषकर रोमन लिपि को 'विश्व भाषा' का सिंहासन उपलब्ध कराया है, वहीं उसने हिंदी सहित अन्य भारतीय भाषाओं को नया विस्तार दिया है। कम्प्यूटर और कारोबार की दुनिया

में हिंदी अब देवनागरी और रोमन दोनों लिपियों में इस्तेमाल की जा रही है। फेसबुक, ट्विटर, वायन आदि पर हिंदी का प्रयोग वैश्विक स्तर पर धड़ल्ले से हो रहा है देवनागरी एवं रोमन दोनों लिपियों में। हिंदी सिनेमा ने जहाँ गानों और संवादों के जरिये पूरे विश्व को हिंदी-उर्दू का मधुर-मिश्रित उच्चारण सुनाया-सिखाया है, वहीं इंटरनेट हिंदी की देवनागरी और रोमन लिपियों के सहारे विश्व में दैनिक प्रयोग की प्रमुख भाषा के रूप में स्थापित कर रहा है। सीरिया, इंडोनेशिया, फिलीपींस जैसे देशों के विशुद्ध विदेशी भी हिंदी को रोमन में समझ रहे हैं और भारत की आर्थिक सुदृढ़ता की वजह से हिंदी सीखने-पढ़ने के लिए प्रोत्साहित हो रहे हैं। अमरीका और यूरोप का कारोबारी जगत चीन और भारत में विशेष दिलचस्पी दिखाने के लिए विवश है। ज़ाहिर है कि उनकी यह दिलचस्पी एशियाई देशों की भाषाओं में भी बढ़ी है, जिनमें चीनी और हिंदी प्रमुख हैं। अमरीका सहित विश्व के अनेक देशों के विश्वविद्यालयों में हिंदी का अध्ययन-अध्यापन उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में बहुत पहले से शामिल है। लेकिन हिंदी के कारोबारी महत्त्व और भविष्य में भारत की बढ़ती वैश्विक भूमिका के मद्देनज़र अनेक देश प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालयों के स्तर से ही हिंदी सीखने-सिखाने का अवसर प्रदान कर रहे हैं ताकि उनकी नयी पीढ़ी भारत और हिंदी को समझ कर भारतीय जुगाड़ तंत्र एवं बौद्धिक-आर्थिक चिंतन की बारीकियों को समझ सके। अमरीका में पिछले कुछ वर्षों से एक संस्था कार्य कर रही है, जिसका नाम है-'हिंदी यू०एस०ए०'। यह संस्था इस दिशा में वैसे तो अनेक कार्य कर रही है, लेकिन इसके दो कार्य अति महत्त्वपूर्ण हैं। एक तो उसकी वेब टीम हिंदी टाइपिंग के शिविरों का आयोजन कर ही है तथा दूसरे भारतीय दुकानों के साइन बोर्ड्स हिंदी में भी लिखवाने के लिए वह प्रयासरत है। टाइपिंग शिविरों में अमरीकी बच्चों और किशोरों को देवनागरी लिपि सिखाई जाती है ताकि इस लिपि की लोकप्रियता बढ़ सके। साइन बोर्ड्स के मामले में उसे आंशिक सफलता मिल रही है।

वैसे, सन् 2007 में न्यूयार्क में जब आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन की मेजबानी हो रही थी तो शहर में हिंदी का रंग-रूप कुछ-कुछ वैसा ही फीका-फीका लग रहा था जो इस समय दिल्ली में जनवरी 2012 में 'पंचदशम् विश्व संस्कृतस्य सम्मेलनम्' के आयोजन के अवसर पर दिखा। मैं जब न्यूयार्क एयरपोर्ट पर उतर रहा था तो मुझे उम्मीद थी कि हवाई अड्डे से संयुक्त राष्ट्र मुख्यालय (उद्घाटन स्थल) तक तथा होटल पेनसिलवेनिया या भारतीय विद्या भवन तक हिंदी का बुखार छाया मिलेगा, लेकिन वहाँ तो चीन के ओलंपिक खेलों के प्रचार का बुखार ही चारों ओर दिख रहा था।

हिंदी का प्रचार-प्रसार आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन के आयोजन के दौरान भी अमरीका में नगण्य था। उसकी एकमात्र वजह शायद यह थी कि पूरा आयोजन ही उसी सरकारी रस्म अदायगी का नमूना दिखा रहा था, जो भारत के तक़रीबन सभी सरकारी कार्यालयों में राजभाषा संबंधी विभिन्न बैठकों के आयोजनों में होता आया है। इसके लिए भारत सरकार की नीतियों से अधिक जिम्मेवारी उन भारतीय नौकरशाहों, साहित्यकारों और हिंदी सेवियों की बड़ी फौज की है जो इस आयोजन से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ी थीं और उन सभी के माध्यम से हिंदी कुछ दिनों तक अमरीका के कुछेक बंद कमरों में सिर्फ़ दिवास्वप्न देखती-दिखाती रही, शहरों में वह साकार कहीं नहीं दिखी। लेकिन बावजूद इसके हिंदी यदि इस समय विश्व कारोबारी भाषा बनने की ओर अग्रसर है तो उसकी सबसे बड़ी वजह है-कारोबार और समय की मांग। किसी विदेशी अभिनेता को यदि हिंदी फिल्मों में काम करना है तो उसे हिंदी अच्छी तरह सीखनी पड़ेगी। हिंदी-उर्दू मिश्रित संवाद से युक्त भारतीय सिनेमा का चमत्कारिक प्रभाव विश्व बाज़ार पर आज भी बरकरार है। डैमस्कस (सीरिया) की 29 वर्षीया छात्र वेसम ओदेह अपने कॉलेज में हिंदी और उर्दू का ज्ञान भी हासिल कर रही हैं। उन्होंने बताया कि जबसे उन्होंने जोधा अकबर फ़िल्म देखी है, वे भारत की दीवानी हो गई हैं और इसलिए हिंदी और उर्दू सीख रही हैं। ए०आर० रहमान और जावेद से वे अत्यधिक प्रभावित हैं। भारतीय संगीत, यहाँ के लोग, शायरी, संस्कृति, व्यंजन, रीति-रिवाज, कला इत्यादि में उनकी दिलचस्पी उन्हें भारतीय भाषा सीखने के लिए प्रेरित कर रही है। अतिरिक्त भाषा का यह ज्ञान वेसम को अपने देश में या कहीं भी कैरियर-कारोबार में अतिरिक्त योग्यता से लैस कर अतिरिक्त सफलता दिलाएगा, यह उम्मीद इस दिलचस्पी में अंतर्निहित है। भिन्न-भिन्न भाषाओं का अध्ययन-अध्यापन करने वाले प्रत्येक शिक्षार्थी भाषा सीखने के अनेक लाभ से वाकिफ होते हैं।

भाषाई प्रशिक्षण दरअसल कारोबार की समझ को बढ़ाता है। देश में केंद्रीय हिंदी संस्थान एक प्रमुख प्रशिक्षण केंद्र है, जहाँ विदेशी छात्र-छात्राओं को विशेष रूप से तैयार पाठ्यक्रम द्वारा हिंदी सिखाई जाती है। विदेश में भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद के विभिन्न केंद्र विदेशियों और वहाँ रहने वाले भारतीय मूल के लोगों को हिंदी, भारतीय संस्कृति, योग, कला आदि का प्रशिक्षण देते हैं। भारत में एक प्रमुख संस्था है-भारतीय विदेश व्यापार संस्थान। इसमें एक ओर जहाँ विदेशी भाषाओं के कारोबारी भाषा स्वरूप का प्रशिक्षण दिया जाता है, वहीं यदा-कदा निर्यात-आयात संबंधी दस्तावेज़ी प्रक्रिया के बारे में हिंदी में भी प्रशिक्षण दिया जाता रहा है। देश में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,

जामिया एवं दिल्ली विश्वविद्यालय समेत अनेक प्रमुख विश्वविद्यालयों में विदेशी विद्यार्थी हिंदी का अध्ययन करने के लिए आते हैं, वहीं अमरीका और यूरोप समेत एशिया के विभिन्न देशों में अनेक विश्वविद्यालयों में उच्च स्तर पर हिंदी के अध्ययन की व्यवस्था है। लेकिन व्यवसाय पत्रकारिता, कारोबारी हिंदी, कारोबारी उर्दू, अन्य कारोबारी भारतीय भाषा आदि में विशेषज्ञ अध्ययन-अध्यापन की सुचारु व्यवस्था देश-विदेश में सरकारी तथा गैर-सरकारी स्तरों पर किए जाने की आवश्यकता है ताकि भारत की आर्थिक उन्नति में भारतीय भाषा और विशेष रूप से हिंदी भी सहायक बन सके, जिसके लिए हिंदी को सरल से सरलतम बनाए जाने की ज़रूरत है ताकि वह निर्यात और आयात की भाषा के रूप में आसानी से स्वीकार की जा सके। वह सूक्ष्म उद्यम, लघु उद्यम और मध्यम उद्यम के साथ-साथ बड़े उद्यम की भी भाषा बन सके।

पिछले कुछ वर्षों से दिल्ली और अन्य शहरों में प्रवासी भारतीय सम्मेलनों का आयोजन होता रहा है। इसमें अनिवासी भारतीय बड़ी संख्या में भाग लेते हैं जो साहित्यकार से लेकर बड़े कारोबारी होते हैं। भारतीय के साथ-साथ अनिवासी भारतीय और सरकार को इन सम्मेलनों में भारत के कारोबार को बढ़ाने और अन्य समस्याओं पर चर्चा के साथ-साथ भारत को कारोबारी भाषा के रूप में हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं को भी विकसित करने पर सार्थक बहस करानी चाहिए और फिर उस दिशा में कारगर पहल करनी चाहिए। यहाँ पर महत्त्वपूर्ण है कि अमरीका, ब्रिटेन, हॉलैंड, मॉरीशस, जापान, जर्मनी, रूस, कोरिया, नेपाल, पाकिस्तान, बांग्लादेश, भूटान, म्यांमार, नार्वे, त्रिनिदाद, सूरीनाम, उज्बेकिस्तान, यूक्रेन जैसे अनेक देशों में हिंदी, हिंदी साहित्य एवं अन्य भारतीय भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन को लेकर पिछले अनेक वर्षों से सरकारी, गैर-सरकारी स्तरों पर सार्थक प्रयास किए गए हैं। अब आवश्यकता है इन देशों के साथ-साथ अन्य देशों में हिंदी को जनभाषा, कारोबारी भाषा और जनसंचारीय भाषा के रूप में स्वीकार्य बनाने के लिए तेज़ी से पहल करने की। इस दिशा में मॉरीशस स्थित विश्व हिंदी सचिवालय सहित हिंदी को लेकर सजग विभिन्न राष्ट्रों को अपने-अपने स्तर से भी हिंदी को कारोबारी भाषा के रूप में प्रचलित कराने के लिए गम्भीर कदम शीघ्र उठाने चाहिए। हिंदी पर सिर्फ़ भारत का अधिकार नहीं है, बल्कि उन तमाम देशों का अधिकार है जो इस भाषा से सिंचित-विकसित हुए हैं और जो भारतीय चिंतन को भारत की भाषा में समझने के लिए लालायित रहते हैं। जैसे भारत में गैर हिंदी क्षेत्र का योगदान हिंदी के विकास में हिंदी क्षेत्र से अधिक है, उसी तरह से हिंदी को विश्व भाषा का दर्जा दिलाने के लिए पहल करने में भारत से कम योगदान मॉरीशस, सूरीनाम, अमरीका, ब्रिटेन, हॉलैंड,

रूस, जापान आदि का नहीं है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जनभाषा-कारोबारी भाषा के रूप में स्थापित होने की वजह से ही हिंदी को आने वाले दिनों में संयुक्त राष्ट्र की आधिकारिक भाषा के रूप में मान्यता मिल सकती है। विश्व हिंदी सम्मेलनों के आयोजनों का भी मुख्य उद्देश्य हिंदी के जनभाषायी और वाणिज्यिक भाषायी स्वरूप के विकास पर केंद्रित करना चाहिए न कि सिर्फ हिंदी साहित्यकारों की व्यक्तिगत हितसाधना पर कीमती समय खर्च करना चाहिए।

हिंदीभाषियों को देश के अंदर गुजराती और तमिल-मलयाली तथा देश के बाहर चीन जैसे देशों से प्रेरणा लेनी चाहिए, जो अपनी भाषा के प्रति दिन-रात समर्पित हैं और मानसिक-सांस्कृतिक रूप से उससे गहरे जुड़े हुए हैं। आज यदि एक गुजराती किसान अपने क्षेत्र में सरकारी विज्ञापन गुजराती में ही पढ़ना चाहता है और चीन जैसा देश अमरीका जैसे देशों को अपने उत्पाद बेचते समय उसमें चीनी भाषा का अनिवार्य रूप से प्रयोग करता है तो यह उन भाषाओं में जीने वाले लोगों के लिए गर्व करने की बात है और अन्य लोगों के लिए एक महत्वपूर्ण सबक है। हिंदीभाषी जितनी जल्दी यह सबक आत्मसात कर लेंगे, उतनी जल्दी हिंदी विश्व की कारोबारी भाषा या आधिकारिक भाषा बन जाएगी।



---

लेखक वरिष्ठ पत्रकार एवं प्रखर कवि हैं।
ई-मेल: harendrapratap.media@gmail.com

"पत्रकारिता अमीरों की सलाहकार और गरीबों की मददगार होनी चाहिए।

**गणेश शंकर विद्यार्थी**, 'प्रताप' में

# महात्मा गाँधी की भाषा-दृष्टि और वर्तमान का संदर्भ: समय का संवाहक-गाँधी

● आशीष कंधवे

*भारत जैसे बहु–भाषी देश में हिंदी के अलावा और कोई ऐसी भाषा नहीं थी जिसे सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए एक सर्वमान्य भाषा घोषित किया जा सके। गांधी जी का भाषायी दृष्किोण शुरू से पारदर्शी रहा। अंग्रेजों को चेतावनी देते हुए एक बार उन्होंने कहा था कि 'हिंदुस्तान की आम भाषा अंग्रेजी नहीं, हिंदी है। वह आप को सीखनी होगी और हम तो आपके साथ अपनी भाषा में ही व्यवहार करेंगे।'*

अंतर्राष्ट्रीय पटल पर विश्व की तीसरी सबसे बड़ी भाषा के रूप में मान्यता तथा विस्तार ने हिंदी को भारतीय अस्मिता की संवाहिका बना दिया है। हिंदी विश्व बन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की समृद्ध वैचारिक परंपरा को मजबूती से आगे ले जा रही है, जो निश्चित तौर पर भारत-भारतीयता तथा भारतवंशियों को एक सूत्र में पिरोये रखने में आज भी उतनी ही सक्षम है। हिंदी सिर्फ भाषा नहीं है अपितु एक विचार है, एक परंपरा है, एक दृष्टि है। कोई भी व्यक्ति या व्यक्तित्व चाहे वह विचारक, चिंतक, समाज सेवी या रचनाकार हो तथा जिसकी सोच सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक अथवा साहित्यिक क्यों न हो वह हमेशा अपने राष्ट्र तथा मानवहित में ही चिन्तन-मनन करेगा।

मैं इस बात का प्रबल समर्थक हूँ कि जो व्यक्ति समय का संवाहक बनकर जीता है, समय के गर्भ में पलने वाले इतिहास को पढ़ने में सक्षम होता है एवं समय के अविरल प्रज्ज्वलित हवन-कुण्ड में अपने चिंतन-मनन-अध्ययन-कर्म की आहुति जीवन पर्यन्त देता रहता है वह निश्चित रूप से इतिहास का रचयिता होता है। वह व्यक्ति अपने व्यक्तित्व से न केवल इतिहास रचता है, अपितु आगे चलकर वह समाज, राष्ट्र तथा मानव मूल्यों के लिये प्रेरणा स्रोत बन जाता है। महात्मा यानी राष्ट्रपिता मोहनदास करमचंद गांध ी यानी बापू इसी क्रम में इतिहास की वह कड़ी हैं जिससे भारतवर्ष ही नहीं, बल्कि पूरा विश्व चकित है। गांधीजी कोई भाषाविद् या साहित्यकार नहीं थे लेकिन उनकी दृष्टि, मनोवैज्ञानिक सोच,

राष्ट्रीय हित, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक लगाव, भाषा, पारंपरिक मूल्यों तथा मानव कल्याण के प्रति गंभीर चिंतन-मनन-अध्ययन ने उन्हें कालजयी बना दिया। वे भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के अग्रदूत, अहिंसा के पुजारी, सादा जीवन-उच्च विचार के समर्थक थे। राष्ट्रीय-सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भाषायी हित की चिंताओं और उसके प्रतिपादन तथा उत्कर्ष के लिए उन्होंने अपने दायित्वों का निर्वहन किया।

'महात्मा गांधी की भाषा-दृष्टि और वर्तमान का संदर्भ' वैचारिक दृष्टि से अत्यन्त संवेदनशील तथा गंभीर विषय-वस्तु है जिसका सूक्ष्म विश्लेषण किये बिना गांधीजी की भाषा-दृष्टि नीति को नहीं समझा जा सकता।

गांधीजी ने सन् 1909 में हिंद स्वराज में स्पष्ट रूप से कहा था कि 'हिंदी ही भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है।' गांधीजी इस बात को भली-भाँति समझते थे कि कोई भी राष्ट्र तब तक विकास, समृद्धि एवं राष्ट्रीय एकता के शीर्ष को नहीं छू सकता जब तक वह राष्ट्र एक भाषा को अंगीकार न कर ले।

गांधीजी के व्यक्तित्व की यह विशेषता थी कि वह जो भी विषय अथवा कार्य अपने हाथों में लेते थे उसके गूढ़ तथा अंतिम निष्कर्ष तक की विवेचना और अध्ययन करते थे तथा फिर उसे राष्ट्रहित के व्यापक तराजू पर तोलकर ही समाज अथवा राष्ट्र के पटल पर रखते थे। गांधीजी स्वराज के साथ-साथ स्व-संस्कृति, स्वदेशी तथा स्वभाषा के प्रबल समर्थक थे। गांधीजी अपने विचार या दृष्टिकोण को राष्ट्रहित में इतना व्यापक रूप दे देते थे कि उनके द्वारा कहा या लिखा एक-एक वाक्य शोध का विषय बन गया।

भारत जैसे बहु-भाषी देश में हिंदी के अलावा और कोई ऐसी भाषा नहीं थी जिसे सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए एक सर्वमान्य भाषा घोषित किया जा सके। गांधीजी का भाषायी दृष्टिकोण शुरू से पारदर्शी रहा। अंग्रेजों को चेतावनी देते हुए एक बार उन्होंने कहा था कि 'हिंदुस्तान की आम भाषा अंग्रेजी नहीं, हिंदी है। वह आपको सीखनी होगी और हम तो आपके साथ अपनी भाषा में ही व्यवहार करेंगे।' इसी सिद्धान्त पर चल कर गांधीजी ने स्वतंत्रता आंदोलन की बागडोर अपने हाथों में ले लिया। गांधीजी ने स्वराज के आंदोलन में सैकड़ों बार इस बात का उल्लेख अपने भाषणों और लेखों में किया कि जिस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए अहिंसा, स्वदेशी, सत्याग्रह, धर्म, खादी आदि प्रमुख मुद्दे हैं उसी प्रकार भारत की भाषा क्या हो-यह भी अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है। भाषा की समस्या के हल के लिए उन्होंने एक 'राष्ट्रीय भाषा नीति' का निर्माण किया। गांधी इस बात को भली-भांति जानते थे कि स्वराज प्राप्ति में भाषा की एक अहम् भूमिका है। भारत के करोड़ों गरीब, भूखे, किसान, दलित एवं जन-सामान्य के लिए एक जन-भाषा का होना

जरूरी है जो हिंदी के अलावा और कुछ नहीं हो सकता था। गांधी ने भाषा को स्वराज के आंदोलन से जोड़ दिया। परिणाम यह हुआ कि वे अपनी बात को जन-जन तक पहुँचाने में सफल-सक्षम हुए अर्थात् गांधीजी की दृष्टि में यह बात स्पष्ट थी कि हिंदी ही भारत की राष्ट्रभाषा है और इसकी प्रतिष्ठा के लिए वे जीवनपर्यन्त संघर्षरत रहे। गांधी का भाषायी दृष्टिकोण हमेशा राष्ट्रवादी रहा। 'हिंद स्वराज' में उन्होंने लिखा था कि 'मैकाले शिक्षा पद्धति द्वारा गुलामी की बुनियाद डाली गयी और अंग्रेजी सत्ता को चलाने तथा स्थापित करने के लिए हमारे प्राचीन धर्म-भाषा तथा संस्कृति को तिरस्कृत किया गया।' गांधीजी का मत था कि इस देश के कुछ लोगों ने मैकाले शिक्षा पद्धति से शिक्षा ली तथा उसे इस देश में स्थापित करने में भी सहयोग किया जिसके कारण हम एक भाषीक गुलामी की तरफ बढ़ने लगे। परिणामस्वरूप हमारे भाषायी और सांस्कृतिक पतन का रास्ता खुल गया। अंग्रेजी भाषा के ज्ञान को ही शिक्षा का मापदण्ड माना जाने लगा जिसकी टीस भारतीय समाज में आज भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी गांधीजी को उस समय उद्वेलित करती थी। गांधीजी अंग्रेजी भाषा के विरोधी नहीं थे लेकिन वे इस बात के पक्षधर भी नहीं थे कि देश के राज-काज में, रोजगार में, व्यापार में, शिक्षा में अंग्रेजी का वर्चस्व बना रहे। उनके विचार में अंग्रेजी पढ़ें लेकिन उसका उपयोग अंतर्राष्ट्रीय संबंधों, शोध, विज्ञान आदि के लिए करें न कि अंग्रेजी के नाम पर अपनी राष्ट्रभाषा-राजभाषा जन-भाषा हिंदी एवं अन्य प्रांतीय भाषाओं की बलि चढ़ा दें। गांधीजी ने अपनी भाषा नीति की घोषणा करते हुए यह कहा था कि 'सारे हिंदुस्तान के लिए जो भाषा होनी चाहिए वह हिंदी ही होनी चाहिए'। वैसे तो इस देश के कई महत्वपूर्ण राजनेताओं, विचारकों, चिंतकों ने भाषा के प्रति अपने विचारों को रखा है परन्तु गांधीजी की तरह स्पष्ट दृष्टिकोण भाषा-दृष्टि-नीति के प्रति और किसी की दिखाई नहीं पड़ती है।

'हिंद स्वराज' में गांधी के उस कथन का हमें ध्यान रखना चाहिए था कि 'हिंदुस्तान एक राष्ट्र है और एक राष्ट्र के लिए राष्ट्रभाषा का होना अत्यन्त आवश्यक है, जो उस राष्ट्र के जन साधारण की भाषा हो, सरकार की भाषा हो, शिक्षा की भाषा हो, अंतर्राज्यीय व्यवहार की भाषा हो, भारतीयता की पहचान हो, जो प्रांतीय भाषाओं के साथ स्पध र्ा न करे एवं राष्ट्र को एकबद्ध कर सके। अपने आंदोलनों, विचारों, भाषणों, लेखों के माध्यम से गांधी ने हमेशा यह विश्वास दिलाया कि हिंदी ही इस राष्ट्र की राष्ट्रभाषा होगी, जो उनके भाषायी दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से दिखाता है।

भूमंडलीयकरण के इस दौर में जब सब कुछ बाजारवाद के तराजू पर तोलकर आँका जाने लगा है। आज के संदर्भ में गांधीजी की भाषा-दृष्टि का महत्त्व अब हमें समझ

आ रहा है। राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत गांधीजी की भाषा दृष्टि इतनी विस्तृत थी कि 1915 में अफ्रीका से लौटने के बाद उन्होंने भारत के राज्यों तथा विश्वविद्यालयों की स्थापना के लिए भाषा को आधार बनाने की बात कही जिसे आगे चलकर अंगीकार कर लिया गया। उन्होंने राष्ट्रभाषा हिंदी के भविष्य को भाँप लिया था तथा राज्यों के लिए मातृभाषा के महत्त्व को भी समझ लिया था कि भारत जैसे बहुभाषी देश में प्रांतीय संपर्क की भाषा अंग्रेजी न बनकर हिंदी बने जिससे हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का भी सम्मान तथा अस्तित्व बचा रहे। 29 मार्च 1918 को इंदौर के एक सम्मेलन में गांधीजी ने कहा था कि हिंदी भाषा को राष्ट्रभाषा तथा अपनी-अपनी प्रांतीय भाषाओं को उचित अधिकार तथा सम्मान नहीं देते तब तक स्वराज की सारी बातें निरर्थक हैं।

आज हम स्वतंत्र हैं। हमारा अपना संविधान है। हम परमाणु सम्पन्न भी हैं और हम अपने आप को एक नये विश्व-शक्ति के रूप में स्थापित भी करना चाहते हैं। लेकिन विडंबना यह है कि आजादी के 65 सालों के बाद भी हमारी कोई राष्ट्रभाषा नहीं है। हिंदी को राजभाषा का दर्जा देकर हमने अपने कर्तव्यों की इतिश्री समझ ली।

वर्तमान दौर में यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो गया है कि विश्व के अनेक देश अपने प्रयास, अपनी भाषा और नीति-दृष्टि के स्पष्ट दृष्टिकोण के कारण नये आर्थिक तथा सामरिक महाशक्ति के रूप में स्थापित होते जा रहे हैं जिसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण जापान एवं चीन हैं। जापान एवं चीन ने अपने सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, राजनयिक एवं सामरिक सभी पक्षों के लिए अपनी मातृभाषा का प्रयोग जिस दृढ़ता से किया वह कहीं न कहीं आधुनिक संदर्भ में गांधीजी की सोच एवं परिकल्पना से मेल खाती है। एक सबल तथा सक्षम राष्ट्रभाषा वाला देश ही आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं सामरिक रूप से महाशक्ति बन सकता है। उधार की भाषा, उध ार की संस्कृति, उधार के विचार से किसी भी राष्ट्र का विश्व महाशक्ति बनने का सपना तारे-तोड़ लाने जैसा ही प्रतीत होता है।

स्वतंत्रता के बाद अगर भारत के नीति-निर्धारकों ने सिर्फ राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर, निजी स्वार्थ से ऊपर उठकर गांधीजी की भाषा नीति और दृष्टि को ही कार्यान्वित करवा पाते तो आज हिंदी की प्रतिष्ठा कहाँ होती इसका आकलन करना दुष्कर कार्य होता तथा हम भी विश्व के अनेक शीर्ष देशों की तरह विकास की ऊँचाइयों को छूते हुए प्रथम पंक्ति में खड़े होते। यह कहना जरा भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि गांध ीजी की भाषा-दृष्टि आज के संदर्भ में भी उतनी ही सार्थक और उपयोगी है जितनी वह स्वतंत्रता के पूर्व थी।

मेरी दृष्टि में जिस प्रकार से गांधीजी का चर्खा चलाना स्वदेशी, स्वरोजगार, स्वावलम्बन, स्वतंत्रता तथा स्वाभिमान को दर्शाता है उसी प्रकार गांधीजी का गुजराती होने के बावजूद हमेशा हिंदी को ही प्राथमिकता देना, हिंदी को ही राष्ट्रभाषा एवं कारोबारी भाषा के रूप में स्थापित करने की दिशा में हमेशा प्रयत्नशील रहना उनके हिंदी से अगाध प्रेम को दर्शाता है। हिंदी ही एक ऐसी भाषा है जो इस देश को एक सूत्र में पिरोये रखने का काम सरलता से कर सकती है। गांधीजी जीवन-पर्यन्त यह कोशिश करते रहे कि हिंदी राष्ट्रीय तथा वैश्विक स्तर पर जल्द से जल्द प्रतिष्ठित हो तथा कामकाज की भाषा बने। मैं समझता हूं कि गांधीजी हिंदी को सिर्फ सम्पर्क भाषा के रूप में स्थापित नहीं करना चाहते थे बल्कि वे हिंदी की गंगा को सम्पूर्ण राष्ट्र में अविरल रूप से बहते देखना चाहते थे।

अर्थात् हम यह कह सकते हैं कि गांधीजी के विस्तृत भाषिक दृष्टिकोण ने उनको समय का संवाहक बना दिया जो भूत-वर्तमान-भविष्य तीनों काल में सर्वथा उचित प्रतीत होता है। मैं अपनी ही एक कविता 'भारत और हिंदी' की कुछ पंक्तियों से अपनी बात समाप्त करता हूं–

भारत में,

हिंदी प्रेम, परम्परा और परिवार की भाषा है।
हिंदी सेवा, स्वाध्याय और स्वाभिमान की भाषा है।
हिंदी दृष्टि, दृष्टिकोण और दर्शन की भाषा है।
हिंदी रंग, मौसम और त्योहार की भाषा है।
हिंदी मोक्ष, मुक्ति और उपकार की भाषा है।
हिंदी स्वतंत्रता, अखंडता और संस्कार की भाषा है।
हिंदी भूत, भविष्य और वर्तमान की भाषा है।
हिंदी भारत की भाषा है।
हिंदी हमारी राष्ट्रभाषा है।
हिंदी गांधी की भाषा है।

जय हिंद! जय हिंदी!!



संपादक, आधुनिक साहित्य, एडी-94डी, शालीमार बाग, दिल्ली-110088
मोबाइल: 09811184393, ई-मेल: aadhuniksahitya@gmail.com

# सौ साल पहले हमें तुमसे प्यार था, आज भी है और कल भी रहेगा

● **विनोद कुमार अग्रवाल**

*यह वर्ष हिंदी सिनेमा के सौ साल पूर्ण करने का वर्ष है, लेकिन सरकारी स्तर पर इसके लिये कोई कार्यक्रम नहीं है न ही किसी प्रकार के पुरस्कार इत्यादि का कोई प्रबंध किया गया है। हिंदी पिफल्म उद्योग के कई कलाकार राज्यसभा और लोकसभा के सदस्य हैं, लेकिन वे भी इस उद्योग की समस्याओं पर सरकार और देश का ध्यान खींचने में असपफल रहे हैं।*

विश्व में सर्वाधिक फिल्मों का निर्माण करने वाले भारत में 7 जुलाई, 1896 को दो फ्रांसीसी भाई लुमीयर ब्रदर्स अपनी कुछ फिल्में लेकर बम्बई आये और उन्होंने वाटसन थियेटर में इनका प्रदर्शन किया। वाटसन थियेटर, जिसे बाद में एकसेल्सियर सिनेमा के नाम से प्रसिद्धि मिली, में इन फिल्मों के प्रदर्शन को लोगों ने अजूबा मानकर देखा और उसके बाद कई विदेशी फिल्मों को बड़ी सफलता मिली। सन् 1904 में भारत का पहला सिनेमा हॉल मणि सेठना ने बनाया। यहाँ केवल फिल्मों का ही प्रदर्शन होता था। इससे प्रेरित होकर भारतीय फिल्म जगत के पितामह दादा साहेब फाल्के ने पहली भारतीय हिंदी फिल्म बनाई। सन् 1913 में उन्होंने 'राजा हरिश्चन्द्र' के नाम से पहली मूक फिल्म बनाई। शुरू में भारत में भक्ति प्रधान फिल्में ही बनाई जाती थीं। 1930 तक भारत में मूक फिल्में ही बनाई जाती थीं। सन् 1931 में ए० ईरानी द्वारा निर्देशित फिल्म 'आलमआरा' पहली सवाक् फिल्म थी जो व्यावसायिक रूप से बहुत ही सफल हुई और इस फिल्म ने भारतीय सिनेमा के लिए तब की जादुई मीडिया के नये अवतरित क्षेत्र में उम्मीद की एक नई राह खोल दी।

आजादी के बाद भारतीय सिनेमा ने सफलता की कई नई ऊँचाइयों को छुआ। इतिहासकार सन् 1940 से लेकर 1960 तक को हिन्दी सिनेमा का स्वर्णकाल भी मानते हैं। इस काल में गुरुदत्त की 'प्यासा' (1957)

और 'कागज के फूल' (1959) राजकपूर की फिल्में 'आवारा' (1951) और 'श्री 420' (1955) महबूब साहब की 'मदर इन्डिया' (1957) आसिफ की 'मुगले आजम' (1960) और विमल रॉय की 'मधुमति' (1958) इत्यादि सफल फिल्में हैं। इस समय के सफलतम अभिनेता में सदाबहार देव आनंद, दिलीप कुमार, राजकपूर और गुरुदत्त थे। वहीं नायिकाओं में नर्गिस, वैजयंती माला, मीना कुमारी, मधुबाला, नूतन, वहीदा रहमान और माला सिन्हा शामिल थीं। राजकपूर तो अपने गाने 'मेरा जूता है जापानी' से पूरे सोवियत संघ में मशहूर हो गये। इसी दौरान बंगाली सिनेमा (टालीवुड) ने भी अपने पंख पसारने शुरू कर दिये। चेतन आनन्द ने 'नीचा नगर' (1946) और बिमलराय की 'दो एकड़ जमीन' (1953) व अन्य कई फिल्मों ने कलकत्ता में बंगाली फिल्म उद्योग को मजबूती से जमा दिया।

सन् 1960 के पश्चात् हिन्दी सिनेमा में रोमांटिक और ऐक्शन फिल्मों का दौर आया। जुबली स्टार राजेन्द्र कुमार, हिन्दी सिनेमा के पहले सुपर स्टार राजेश खन्ना, धर्मेन्द्र, संजीव कुमार, शम्मी कपूर, शशि कपूर, शर्मीला टैगोर, मुमताज, 'ड्रीम गर्ल' हेमा मालिनी, आशा पारेख, तनुजा इत्यादि इस दौर के प्रमुख कलाकार थे। इस दौर में व्यावसायिक फिल्मों के साथ-साथ समानान्तर फिल्में भी बनीं। भारतीय युवाओं के आक्रोश को जगाते हुए 'एंग्री यंगमैन' सदी के महानायक अमिताभ बच्चन ने भी इसी दौर में कला के अपने जौहर दिखाये। सन् 1975 में बनी फिल्म 'शोले' भारतीय फिल्म इतिहास की सफलतम फिल्मों में से एक है। इस फिल्म ने कई मानक स्थापित किये। रोमांस और ऐक्शन के इस दौर में 'जय सन्तोषी माँ' नामक भक्ति प्रधान फिल्म ने अपने झण्डे गाड़कर सभी को अचंभित कर दिया। यह दौर सदी के महानायक अमिताभ बच्चन का दौर था। उन्होंने अपनी फिल्मों में आम भारतीय युवा की दबी कुचली भावनाओं को फिल्म के परदे पर उभारा और प्रसिद्धि पाई। 26 जुलाई 1982 को बैंगलोर में फिल्म 'कुली' की शूटिंग के दौरान उन्हें लगी चोट से सारा देश स्तब्ध रह गया। देश भर में जगह-जगह पर उनकी सलामती के लिये प्रार्थना सभाएँ, यज्ञ इत्यादि किये गये।

1980 और 1990 के दशक में भारतीय फिल्में दोबारा पारिवारिक और संगीत प्रधान फिल्मों की ओर मुड़ गईं। कयामत से कयामत तक (1988), हम आपके हैं कौन (1994), मैंने प्यार किया (1989), दिलवाले दुल्हनिया ले जायेंगे (1995), मि० इन्डिया (1987) इत्यादि इस दौर की कुछ प्रसिद्ध फिल्में हैं। आमिर खान, शाहरुख खान, सलमान खान, अनिल कपूर, सन्नी देओल, काजोल, श्रीदेवी, माधुरी दीक्षित, जूही चावला इत्यादि इस दौर के सफल अभिनेता और अभिनेत्रियाँ हैं। इसी दौर में कॉमेडी फिल्मों ने भी अपने

पैर पसारे। नायक भी अब कॉमेडी रोल करने लगे। गोविंदा इसके बेहतरीन उदाहरण हैं। 1998 में रामगोपाल वर्मा द्वारा निर्देशित फिल्म 'सत्या' समानान्तर फिल्मों में एक सफल नाम है।

सन् 2000 के पश्चात् मल्टीप्लेक्स सिनेमाघरों के उत्थान ने भारतीय सिनेमा जगत को एक नई ऊँचाई प्रदान की। बेहतर गुणवत्ता, बेहतर छायांकन और मौलिक कहानियों और संगीत के सुरीले सुरों से सजी कई फिल्मों ने विश्व सिनेमा जगत में भारत की धाक जमा दी। लगान (2001), देवदास (2002), कल हो न हो (2003), रंग दे बसंती, लगे रहो मुन्ना भाई, धूम-2 (सभी 2006), चक दे इन्डिया (2007), गजनी (2008), थ्री इडियट्स (2009), दबंग (2010) और डर्टी पिक्चर्स (2011) इत्यादि इस वर्तमान दौर की वे सफल फिल्में हैं जिन्होंने भारतीय फिल्म जगत को एक नया आयाम दिया और सफलता की एक नई इबारत लिखी। ए०आर० रहमान ने अपने संगीत से देश-विदेश में भी सफलता के झण्डे गाड़ दिये।

यद्यपि हिन्दी फिल्म जगत एक उद्योग की तरह काम करता है परन्तु आज तक इसे उद्योग के रूप में मान्यता नहीं मिली। किसी प्रकार की कोई सरकारी सहायता या सहयोग प्राप्त नहीं होता। हिन्दी फिल्म जगत से लाखों लोग अपनी रोजी-रोटी कमाते हैं फिर भी इसे किसी भी प्रकार का कोई सरकारी सहयोग नहीं मिलता। निर्माण हेतु कोई फाइनेंशियल इन्स्टीट्यूट अथवा बैंक आसानी से ऋण उपलब्ध नहीं कराते। सब कुछ प्राइवेट फाइनेंसरों के दम पर चलता है और शायद यही वजह है कि फिल्म उद्योग में तथाकथित रूप से 'अंडर वर्ल्ड' का पैसा ही निर्माण और वितरण के क्षेत्र में इस्तेमाल होता है।

हिंदी फिल्म जगत ने विदेशों में हिंदी-भाषा, भारतीय संस्कृति और इतिहास को फैलाने में अपना उल्लेखनीय योगदान दिया है। राजकपूर 1950 के दशक में सोवियत संघ में मशहूर थे और वहाँ के लोग उनकी फिल्मों को बड़े ही चाव से देखते थे और उनके गाने गाते थे। वर्तमान पीढ़ी के कलाकारों में शाहरुख खान, सलमान खान, आमिर खान, अमिताभ बच्चन, ऐश्वर्या राय बच्चन इत्यादि भी विदेशों में मशहूर हैं। कई देशों में लोग इनकी फिल्में देखने के लिए हिंदी सीखते हैं। मदर इन्डिया का प्रदर्शन नाईजीरिया में कई सालों तक होता रहा। बंगला देश, नेपाल, पाकिस्तान, अफगानिस्तान और श्रीलंका में भारतीय फिल्में बड़े ही चाव से देखी जाती हैं। मुझे याद है कि जब मैं 1978 में कोलम्बो अपने स्कूल टूर में गया था, वहाँ शाम को होटल में हमारा स्वागत एक हिन्दी गाने से किया गया। मध्य एशियाई देशों में भी भारतीय फिल्में काफी मशहूर हैं।

वर्तमान परिदृश्य में अब भारतीय फिल्में भी पश्चिमी सभ्यता की हामी बनती जा रही हैं। ज्यादातर फिल्मों में हिंसा और नग्नता का भौंड़ा प्रदर्शन किया जाता है। मानो पश्चिमी सभ्यता ही फिल्मों की सफलता का एक मात्र पैमाना हो। पारिवारिक फिल्मों का दौर कम हो गया है।

'राजा हरिश्चन्द्र' से लेकर 'डर्टी पिक्चर्स' तक का हिन्दी सिनेमा का सफर कई पड़ावों से गुजरा है। अब टेलीविजन, केबल टी०वी० और अन्य कई संचार साधनों ने जहाँ इसके प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, वहीं फिल्म पाईरेसी से इस उद्योग को एक गहरा आघात भी लगा है। मल्टीप्लैक्स सिनेमा के दौर में जहाँ टिकट का दाम लगभग 200 रुपये प्रति टिकट है और एक औसत परिवार को फिल्म देखने के लिए लगभग एक हजार रुपये का खर्च उठाना पड़ता है। वहीं लोग 20-30 रुपये में किराये पर मिलने वाली नई फिल्म की सी०डी० अपने घर में ही देखना उचित समझते हैं। फिल्में स्थानीय सरकारों को राजस्व पाने का एक बड़ा साधन है। टिकट की कीमत में लगभग 60 प्रतिशत हिस्सा मनोरंजन कर के रूप में सरकार को जाता है। यह वर्ष हिंदी सिनेमा के सौ साल पूर्ण करने का वर्ष है, लेकिन सरकारी स्तर पर इसके लिये कोई कार्यक्रम नहीं है। न ही किसी प्रकार के पुरस्कार इत्यादि का कोई प्रबंध किया गया है। हिंदी फिल्म उद्योग के कई कलाकार राज्यसभा और लोकसभा के सदस्य हैं लेकिन वे भी इस उद्योग की समस्याओं पर सरकार और देश का ध्यान खींचने में असफल रहे हैं। वे केवल अपनी पार्टी विशेष के लिए सभाओं में भीड़ जमा करने के साधन मात्र हैं। सरकार को इसे एक उद्योग के रूप में मान्यता देनी चाहिये और सभी स्तर पर ऋण, प्रशिक्षण एवं अन्य सहायता प्रदान करनी चाहिये। इससे भारतीय फिल्म उद्योग और तेजी से फूलेगा-फलेगा और विदेशों में भारतीय संस्कृति, भाषा और समाज की विशेषताओं का प्रचार-प्रसार सुदृढ़ रूप से कर सकेगा। प्रवासी भारतीय समाज को भी अपनी मिट्टी संस्कृति, भाषा और समाज से जोड़ने का काम भी भारतीय सिनेमा जगत करता है। उम्मीद है कि यह इसी तरह भारतीय संस्कृति तथा हिंदी भाषा का प्रचार-प्रसार करता रहे।

◈ ◈ ◈

**लेखकों से अनुरोध**

❶ मौलिक तथा अप्रकाशित-अप्रसारित रचनाएँ ही भेजें।
❷ रचना फुल कागज पर साफ लिखी हुई अथवा शुद्ध टंकित मूल प्रति भेजें।
❸ रचनाकार/लेखक अपना पूरा परिचय, पता, फोन एवं फोटो साथ भेजें।
❹ लेखकों से निवेदन है कि लेख की एक प्रति अपने पास अवश्य रखें।

# *एक ही युग की दो विभूतियाँ*

● डॉ० मिथिलेश कुमारी मिश्र

**आधुनिक तमिल काव्य की सांस्कृतिक राष्ट्रीयधारा में नामक्कल कवि का विशेष स्थान है। परतन्त्रता के अभिशाप से पीड़ित जनजीवन का चित्रण, गौरवमयी भारतीय संस्कृति से राष्ट्र निर्माण के लिए सद्प्रेरणा तथा राष्ट्रोद्धार के लिए मानवतावादी गुणों का आग्रह आदि विषयों का प्रतिवादन इनके युगबोध का प्रमाण है।**

इस परिवर्तनशील संसार में लोग नित्य जन्मते और मरते हैं। कभी-कभी कुछ ऐसी विभूतियाँ इस संसार में अवतरित होती हैं जो समाज, राष्ट्र और मानवता के लिए कुछ ऐसा कर जाती हैं जिन्हें इतिहास सदा याद रखता है। समानधर्मा व्यक्ति का चिन्तन सदा एक ही रहता है चाहे स्थान, परिवेश, भाषा की विविधता क्यों न हो। ऐसे ही दो चिन्तकों, ऐसी ही दो विभूतियों के विषय में यहाँ विचार प्रस्तुत है जिन्होंने अपने युगबोध को पहचाना तथा साहित्य के माध्यम से उसे इतनी सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान की कि विश्व प्रांगण में उसका विशिष्ट स्थान बन गया। राष्ट्र के परिप्रेक्ष्य में इनकी वाणी सामयिका के पूर्णप्रवाह से गुंजित होती हुई, तीव्रतम राष्ट्रप्रेम के अतिरेक से मिलकर विशुद्ध राष्ट्रीयता का सृजन करती रही। ये दोनों विभूतियाँ हैं- राष्ट्रीय आत्मा पं० माखनलाल चतुर्वेदी, जिनका जन्म 4 अप्रैल सन् 1889 को मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले में हुआ था तथा जागरण संदेश का शंखनाद करनेवाले राष्ट्रीय चेतना के कवि श्री नामक्कल रामलिंगम पिल्ले, जिनका जन्म 19 अक्टूबर 1888 को हुआ।

नामक्कल के 'पिरातन', 'शंखोलि', 'तमिषतेन', 'कविताजंलि', 'मलर्न्दपूक्कल', तथा 'तमिषन इदयम्' और माखनलाल चतुर्वेदी के 'हिमकिरीटिनी', 'हिमतरंगिनी', 'युगचरण', 'समर्पण', 'वेणु लो' गूंजे धरा', 'मरण ज्वार', आदि काव्य संग्रहों में सामयिक युग बोध, सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना से भरी कविताएँ हैं। दोनों ही समकालीन थे तथा मात्र लेखक या कवि ही नहीं, स्वयं राजनीतिक संग्राम में भाग लेने वाले थे। दोनों ने जेल की यातानाएँ भी झेली। इनका काव्य स्वानुभूत

होने के कारण और अधिक प्रभावशाली हो गया है।

उक्त दोनों ही कवियों की वाणी में उद्‌बोधन का सशक्त स्वर है। प्रेरणा और साहस का स्वर देते हुए 'हिमकिरीटिनी' में चतुर्वेदी ही कहते हैं-

चढ़ चल, बढ़ चल थक मत रे! बलि से सुन्दर जीव।
उच्च कठोर शिखर के ऊपर है मंदिर की नींव।।
बड़े-बड़े ये शिला-खण्ड मग रोके पड़े अचेत।
उन्हें लांघ तू यदि जाना है, तुझे मरण के हेत।

नामक्क्ल भी कहते हैं-

"इस गुलामी के जीवन को
छोड़ दूर करने के लिए भागते चल।"

'पिरातर्न' काव्य संग्रह में 'जीता रहे हमारा देश', 'तमिष युवक के लिए', आदि अनेक कविताएँ जागरण का अद्‌भुत संचार है। मन, मस्तिष्क पर विशेष जादू डालती है। 'दासता के जीवन को नरक' बताते हुए उससे मुक्त होने का संदेश दिया है।

क्रांतिपूर्ण व्यक्तित्व वाले दोनों कवियों पर गाँधी के युगबोध का प्रभाव भी पड़ा। चतुर्वेदी जी का कथन-

ले कृषक- संदेश, कर बलि- वन्दना,
ध्वज तिरंगे की करो सब अर्चना।
घूमता चरखा लिये, गिरिपर चढ़ो,
ले अहिंसा-शस्त्र ही आगे बढ़ो।।

नामक्कल ने भी लिखा है-

शस्त्र के बिना, रक्त के बिना
युद्ध एक आ रहा है
सत्य ही नित्यता पर विश्वास जो करे
आ मिले सब एक साथ।।

उक्त कविता से ही नामक्कल जनकवि के रूप में प्रसिद्ध हुए। आधुनिक तमिल काव्य की सांस्कृतिक राष्ट्रीयधारा में नामक्कल कवि का विशेष स्थान है। परतन्त्रता के अभिशाप से पीड़ित जनजीवन का चित्रण, गौरवमयी भारतीय संस्कृति से राष्ट्र निर्माण के लिए सद्‌प्रेरणा तथा राष्ट्रोद्धार के लिए मानवतावादी गुणों का आग्रह आदि विषयों का प्रतिवादन इनके युगबोध का प्रमाण है।

यही नहीं गाँधी आदि के विचारों से भी वे बहुत प्रभावित थे। मुख्यतः खादी को

कवि स्वदेशप्रेम, आर्थिक उन्नति, अहिंसा का प्रतीक एवं चारित्रिक शुद्धि का माध्यम कहता है-

पाप घटेगा, कहकर चर्खे चलो
भय छिपेगा, कहकर चर्खे चला।
कौप घुलेगा, कहकर चर्खे चलो
बढ़ जायेगा, कहकर चर्खे चलो।।

चतुर्वेदी जी की कविताओं में भी इस प्रकार के चित्रण मिलते हैं। चरखा चलाने पर व्यंग्य करने वाले को उत्तर देते हुए कवि कहता है-

ढेरा मत बोलो, यह मेरा व्रत-पूजन है
सन नहीं, तन भारतीयों से मिलाता है।
चक्कर लगाते हुए अलख जगाता है
यों विश्व बांधने को प्रेम-बंधन बनाना है।।

ये विभूतियाँ विश्वप्रेम, विश्वकल्याण जैसे उदात भावों का भी सदा सम्प्रेषण करती रही। नामक्कल की निम्नांकित पंक्तियाँ पठनीय है-

जय! जग के सभी जीवों की जय हो।
रोग, भय, गरीबी दूर होने जय हो।।

इसका मूल है- वालक, वैयकतिक, यास्मपिणि, वस्मैं, अच्चमटु वालक।

भारत माता का विपाल (इंतियताय पुलवल), मेरा देश, स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा, आदि कविताएँ बड़ी ही मार्मिक है। वैसी ही मर्मस्पर्शी कविताएँ माखनलाल चतुर्वेदी के काव्य का भी श्रृंगार हैं जिनमें 'पुष्प की अभिलाषा', कैदी और कोकिला, वेणु लो, ..... आदि प्रसिद्ध हैं। इनके सहज, सरल व सादगी से परिपूर्ण एक गीत की कुछेक पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं-

वीर देश के बच्चे हो तुम, घबड़ाने का काम नहीं,
सूखी पुस्तक और परीक्षायें, शिक्षा का नाम नहीं,
तो बस बढ़ो, निराशा छोड़ों, गीत में आना है।

नामक्कल का स्वर है-

चाहिए क्रांति, चाहिए क्रांति
चाहिए अवश्य ही क्रांति।
क्रांति के शब्द अर्थ में भी
चाहिए अवश्य ही क्रांति।

यही नहीं, क्रांति शब्द की परिभाषा में भी नव्यता की खोज करने वाले कवि ने

'नाट्टु-मुम्मि' में प्राचीनता की नींव पर राष्ट्रनिर्माण की इच्छा व्यक्त की है-

धन्य है मुनियों से खोज प्रदत्त
वेद परम्परा की रीति नीतियाँ
धन्य ज्ञानबोध प्राप्त मनीषी ओ
धन्य यह पृथ्वी सारी।

नामक्कल के लिए भारत भू-वैभव, प्राकृतिक समृद्धि एवं जनसमृद्धि से समन्वित है। चतुर्वेदी व नामक्कल दोनों ही कवियों के काव्य में एक और देशभक्ति व मानव-जीवन के शाश्वत मूल्यों की सहज अभिव्यक्ति हुई है तो दूसरी ओर संस्कृति की गरिमा, प्रकृति श्रीवृद्धि आदि का भी सुन्दर चित्रण मिलता है।

महाभारत की पुनरावृति न हो, ऐसा चिन्तन स्पष्ट परिलक्षित होता है-

आज कोई विश्व-दैत्य तुम्हें चुनौती दे
औ महाभारत न हो पाये सखे! सुकुमार,
बलवती अक्षौहिणियाँ विश्व-नाश करे
'शस्त्र मैं लूंगा नहीं' की कर सको हुंकार,
किन्तु प्रण की, प्राण की बाजी जगे उस दिन
हो कि इस भू-भाग पर ही जिस किसी की वार।।

माखनलाल चर्तुवेदी व नामक्कल के काव्य पर किंचित् दृष्टिपात के बाद इन विभूतियों की अन्य कृतियों को जान लेना भी अनिवार्य ही है।

कवि व्यक्तित्व के अतिरिक्त रामलिंगम् एक सफल गद्यकार व समीक्षक के रूप में भी तमिलभाषियों के बीच समादृत हैं। कंव रामायण एवं तिरूक्कुरल की सही टीका एवं आलोचना इनकी आलोचनात्मक दृष्टि का परिचायक है। तमिल भाषा व तमिल शासन (तमिष मोषियुम तमिष अरसुम) ग्रंथ नामक्कल रामलिंगम् पिल्ले का कीर्तिस्तम्भ है। इसमें तमिल भाषा व तमिल शासन पर गंभीर अनुसंधान किया गया है। इसमें तमिल का जन्म, विकास एवं संस्कृति संबंधी निबंध संगृहीत है। तिरक्कुरल की नयी व्याख्या का पुनर्मूल्यांकन रामलिंगम् ने किया जो नीति का एक मानक ग्रन्थ है। 'तिरूववल्लुवर तिडुक्किडुवार', 'कम्बरूम बाल्मीकियुम्', 'तिरूववल्लुवरूम परिमेल्षज्ञगरूम' 'वल्लुवरिन् उल्लम्', गांधी अडिगलुम, कम्बनाट्टाषवारूम' आदि में इनका समीक्षक रूप स्पष्ट हुआ है।

उपन्यासकार के रूप में इनका व्यक्तित्व 'मलैक्कल्लन्' जिस पर चलचित्र भी बना था, करपगवल्ली, तामरैक्कण्णि आदि में देखा जा सकता है। ये उपन्यासकार इस तथ्य के परिचायक हैं कि वे केवल सफल कवि ही नहीं, तेजस्वी गद्यकार भी थे। 'अन्बु चेयद् अरपुदम' तो इनकी विचित्र रचना है जिसका पूवार्द्ध भाग पद्य में तथा उत्तरार्द्ध गद्य में है।

'मामन् मगल' में इनका नाटककार रूप भी मिलता है।

नामक्कल रामलिंगन् पिल्ले के 15 कविता संग्रह, 14 संग्रह, 14 निबंध, 7 शोध ग्रंथ, 5 उपन्यास, 3 जीवनियाँ, 2 संगीत संबंधी पुस्तकें, 2 अनूदित, तिरूक्कुरल की नयी व्याख्या तथा मेरी कहानी आदि हैं। ये बहुत अच्छे चित्रकार भी थे जिस कविता के कारण इन्हें राष्ट्रकवि कहा गया उसकी कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत है-

कतियिण्ड् रतमिण्ड्
मृद्धम् ओण्ड् वरूटुटु
सतियतिन नितिमयं
नंबुम् यारूम् सेरूवीर।

अर्थात्

आ खड़ा है युद्ध सम्मुख धोर अपार।
ना बहाव खून का है, ओ न तलवार
सत्य की जो नित्यता पर आस रखते
ऐसे लोग सब के सब आकर मिल जाये।।

इन्हें अपने जीवन-काल में ही पर्याप्त ख्याति मिली। 1971 ई० में भारत सरकार ने इन्हें 'भारतभूषण' उपाधि से भी विभूषित किया था। 84 वर्ष की उम्र में 24 अगस्त सन् 1972 में इनका तिरोधान हो गया।

दूसरी विभूति पं० माखनलाल चतुर्वेदी हैं जो कवि के साथ ही एक प्रखर एवं निर्भीक पत्रकार भी रहे। 1913 में 'प्रभा' के सह-सम्पादक हुए। 'कर्मवीर' जैसा पत्र निकालकर सर्वाधिक ख्याति अर्जित की। 'प्रताप' जैसे पत्र से भी जुड़े रहे। स्वतंत्रता आन्दोलन को इनकी पत्रकारिता से बड़ा बल मिला। पत्रों की टिप्पणियाँ इनके साहस का परिचायक है। ये अपनी पत्रकारिता के प्रति सदा ईमानदार रहे। इस माध्यम से राष्ट्र की महत्वपूर्ण सेवा की। इन्हें भारत सरकार द्वारा पद्मभूषण की उपाधि प्रदान की गयी थी जिसका 10 दिसम्बर 1967 को राष्ट्रभाषा संशोधन विधेयक के विरोध में इन्होंने परित्याग किया था। 'हिमकिरीटिनी' जल देव पुरस्कार तथा 'हिमतरंगिनी' पर साहित्य अकादमी का प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था।

चतुर्वेदीजी की प्रथम कृति 'कृष्णार्जुन युद्ध' थी। यह नाट्य कृति थी जिसे पर्याप्त प्रशंसा मिली। गद्य के क्षेत्र में भी चतुर्वेदी जी ने हिन्दी साहित्य को बहुत कुछ प्रदान किया। साहित्य देवता, अमीर इरादे : गरीब इरादे तथा चिन्तक की लाचारी आदि विविध विषय गुम्फित निबंधों के संग्रह के रूप में हमारे सामने हैं। इन निबंधों में साहित्य, जीवन, समाज,

संस्कृति, धर्म शिक्षा, पत्रकारिता आदि विषयों का विवेचन किया गया है।

'समय के पाँव' एकमात्र संस्मरण संग्रह है। इसमें साहित्यिक व्यक्तियों व नेताओं के संस्मरण हैं। 'कला का अनुवाद' नामक कहानी-संग्रह संवेदना व कटुतापूर्ण प्रसंगों को आत्मसात् किये है। माखनलाल चतुर्वेदी ग्रंथवली का प्रकाशन हो चुका है जिसमें इनकी सभी रचनाएँ उपलब्ध हैं।

उक्त विवेचन के बाद यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः दो भाषाओं के साहित्यिक अध्ययन से निश्चित रूप से इस तथ्य तक पहुँचा जा सकता है कि बाह्य विभिन्नताओं के बाद भी भारतीय चिंतन सदा एक-सा रहा है और एक रहेगा। उक्त दोनों विभूतियों के साहित्य में ऐसा लगता है कि भाव एक है मात्र कलेवर का अन्तर है, जो राष्ट्रीय एकता का परिचायक है।

## संदर्भ सूची


1. माखनलाल चतुर्वेदी, हिमकिरीटिनी, पृ०-110
2. नामक्कल : पिरातंनं, पृ०-16
3. माखनलाल चतुर्वेदी, हिमकिरीटिनी, पृ०-281
4. नामक्कल : ना० पाडलगल, पृ०-115
5. नामक्कल : ना० पाडलगल, पृ०-376
6. माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली
7. पेरियोर मलर (कविता संग्रह का छठा खण्ड)
8. माखनलाल चतुर्वेदी : आदेश, माता, पृ०-37
9. नामक्कल : मालदे पूक्कल, पृ०-60
10. नामक्कल : पिरातनं, पृ०-27
11. माखनलाल चतुर्वेदी : वेणू ले, गूंजे धरा, पृ०-100
12. नामक्कल : ना० पाडलगल, पृ०-115




मिथिलेश कुमारी मिश्र, संपादक, परिषद् पत्रिका, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, सैदपुर, पटना-800004

# *कविवर डॉ□ नलिन के 'अनन्वय' काव्य में राष्ट्रीयता*

● **डॉ० ब्रजबिहारी पाण्डेय**

**कवि की राष्ट्रीय चेतना में जहाँ अधीनता के अभाव का भय परिलक्षित हुआ है वहीं मानव-मानव के बीच प्रगाढ़ प्रेम की अजेयता से हीनता एवं दीनता का भय दूर होता दिखाई देता है। इस राष्ट्रीय चेतना में व्यष्टि के स्थान पर समष्टि का प्रभाव प्रकट होता है। यही कारण है कि राष्ट्रीयता में असीम विश्व की कल्याण कामना समाहित है। विश्व में शक्ति की स्थापना से ही मानव का विकास संभव है और वह तब होगा जब मानव-मानव के बीच बनी विभेद की दीवार समाप्त होगी एवं वह ऐक्य बोध के भाव से पुष्ट होगा।**

राष्ट्रीयता एक सार्वभौम प्रश्न है। राष्ट्रीयता की परिधि में विश्ववंधुत्व की भावना तो समाहित है ही, वह वसुधैवकुटुम्बकम् की अमर साधना का सन्निवेशी भी है। कारण स्पष्ट है फलतः रचनाकार चाहे जिस कालखंड में सृजनरत हो अपने को राष्ट्रीयता से पृथक कर ही नहीं सकता। डॉ० ब्रजमोहन पाण्डेय नलिन सारस्वत प्रतिभा से सम्पुष्ट एक ऐसे रचनाकार हैं जिनका चिन्तन अपने कालखण्ड में जन्म ले रही अनेकानेक समस्याओं से परिवेष्टित होकर उसका समाधान के लिए सतत क्रियाशील है। यही कारण है कि इनकी रचनाओं में राष्ट्र की चिन्ता एवं चेतना का रूप सम्पूर्णता में परिलक्षित हुआ है।

'अनन्वय' कविता संग्रह की प्रथम कविता ''भारती वंदना'' में कविवर नलिन ने यद्यपि माँ शारदे की असीम कृपा की प्राप्ति हेतु वंदना/आराधना की है, परन्तु शारदा के कतिपय नामों में भारती नाम का चयन यह परिलक्षित करता है कि कविवर भारती से भारत-राष्ट्र के उत्थान हेतु आराधना कर रहा है। आशय स्पष्ट है कि कवि का मन राष्ट्रीयता के उच्च संस्कार से कुछ इस तरह प्रभावित है कि माँ शारदा 'विश्व-पोषण में निरत करूणामयी''[1] उन्हें दिखाई पड़ती है तथा वह विश्व मानव की मनुजता की रक्षा हेतु शक्तिदायी भी है।

बलिदान एवं विसर्जन की आधार शिलापर राष्ट्रीयता प्रस्फुटित होती है। कवि का यह विचार उनकी 'बादल' शीर्षक कविता में अकुंरित हुआ है जब वे कहते हैं कि'' है विसर्जन में अतुल सर्जन समाहित''।[2] कवि जानता है कि बादल बरसने के लिए बनते हैं। लेकिन बादल के बरसने

में विसर्जन एवं इस विसर्जन से प्रकृति में चहु ओर जो विकास एवं हरितिमा का प्रसार होता है, उसमें अतुल सर्जन का भाव दिखाई पड़ना कवि के उस उदात्त प्रकृति का परिचय कराता है जिसके लिए कवि अर्थात् रचनाकार को नवसृजन हार की संज्ञा दी गई है। निराशा की निशा में मधुमय सवेरा का सृजन करने वाले रचनाकार में राष्ट्र मंगल की प्रखर संचेतना होती ही है तभी वह नवल निर्माण एवं सृष्टि का अभिनव जयघोष करने में समर्थ होता है। साथ ही राष्ट्र धर्म के सम्पोषण हेतु कालकूट भी पीता है। ऐसा इसलिए कि वह जानता है कि मरण का वरण करने वाला ही शूरमा एवं समरस्वामी कहलाता है।

कवि की राष्ट्रीय चेतना में जहाँ अधीनता के अभाव का भय परिलक्षित हुआ है वहीं मानव-मानव के बीच प्रगाढ़ प्रेम की अजेयता से हीनता एवं दीनता का भय दूर होता दिखाई देता है। इस राष्ट्रीय चेतना में व्यष्टि के स्थान पर समष्टि का प्रभाव प्रकट होता है। यही कारण है कि राष्ट्रीयता में असीम विश्व की कल्याण कामना समाहित है। विश्व में शक्ति की स्थापना से ही मानव का विकास संभव है और वह तब होगा जब मानव-मानव के बीच बनी विभेद की दीवार समाप्त होगी एवं वह ऐक्य बोध के भाव से पुष्ट होगा। सम्पूर्ण मानव मन समृद्धि के लिए क्रियाशील होगा। कविश्रेष्ठ नलिनजी की 'हिमालय' कविता राष्ट्रीय पौरुष का चरमोत्मकृष्ट दृष्टांत प्रस्तुत करती है। हिमालय चिर विराट तो है ही बल्कि पुरातन काल से यह पौरुष की अप्रतिम प्रतिमान है, जो समय-समय में भारतीय वीरों के मन में अपराजेयता का बोध कराने में समर्थ हौ यों तो राष्ट्रीयता के धरातल पर हिमालय की गुणगाथा से भारतीय रचना संसार भरा हुआ है, लेकिन नलिनजी की हिमालय कविता में पौरुष के साथ-साथ पौरुष से प्राप्त शक्ति का अद्‌भुत चित्रण अत्यंत मोहक बन पड़ा है जिसे इन पंक्तियों में देखा जा सकता है- ''शक्ति पर्व यह अन्तस्तल का, सद्‌गुण का मण्डन है, यह आलोक प्रखर जीवन का मूर्तित तपश्चरण है।''

राष्ट्रीयता के संदर्भ में रचनाकार की सोच स्पष्ट है कि तपश्चरण से जिस पौरुष का प्रकटन होता है, सच्चे अर्थों में वही पौरुष राष्ट्र हित-साधन में समर्थ एवं सबल होता है। कविश्रेष्ठ की नजर में पौरुष ज्वालामुखी नहीं, बल्कि अन्त:सलिला है जो अपने आस पास के परिवेश को शीतलता एवं शान्ति प्रदान करने में समर्थ होता है। राष्ट्रीयता की इसी उदात्त वृति का चित्रण कवि की रचना 'साधना' में दिखाई पड़ता है जब कवि कहता है- ''तप नियम संयम संभाले हर क्षणों में मुक्ति गति ले अभय शत बंधनों में, फूल सा हँसता मचलता खिल रहा हूँ कौंध विद्युत-सा अभय कुल तम घनों मे'[3] तथा आगे ''मैं व्रती हूँ पंथ का पथ ही झुकेगा, कब भला हारा पथी वह कब रुकेगा, कब प्रलय के रोकने से रुक सका है, नवसृजन वह तो निरन्तर ही रहेगा।[4]

सच में सृजन पौरुष की प्रकृति एवं साधना है ऐसा पौरुष भीषणतम प्रतिकूलताओं के बीच सफलता की राह सृजन कर ही लेता है तथा ऐसे ही पौरुष से राष्ट्रीयता पल्लवित एवं पुष्पित होती है, जिसका मनोरम तथा मोहक चित्रण कवि की रचनाओं में हुआ है।

किसी राष्ट्र में निवास करनेवाले नर एवं नारियों के सद्‌गुणों से वहाँ की राष्ट्रीयता अभिमंडित होता है। जिस राष्ट्र के नर में नारायण तथा नारी में कल्याणी का निवास होता है, उस राष्ट्र की महिमा के क्या कहने? सप्तपदी की ये पंक्तियाँ दर्शनीय है-

'तुम नर हो पौरुष की प्रतिमा
मैं कल्याणी नारी
युगचेतना के सविता तुम
मैं उषा सुकुमारी।[5]

''सप्तपदी'' दाम्पत्यबंधन की उत्कृष्टता का परिचय देने वाली कविता है, लेकिन इस कविता में कवि की राष्ट्रीय चेतना का अद्‌भुत प्रस्फुटन हुआ है। कवि की इसी चेतना का विकास उनकी प्रकृतिपरक रचना 'बसन्त' में मूर्तित हुई है-

''लिए विकास प्राण मैं समस्त सृष्टि नापता
चला वसन्त ओज में, विराम है न जानता
बढ़ा रही निसर्ग में प्रमोद की विभामयी
नवीन चेतना लिये सुघर समुद प्रभाययी''[6]

प्राण में विकास का मंच लिए पुरुष का पुरुषार्थ जब घनघोर-तिमिर में राह का संधान करता है तो ऐसे ही पुरुषों से पौरुष के प्रतिमान गढ़े जाते हैं तथा राष्ट्र की राष्ट्रीयता अपने यहाँ निवास कर रही ऐसे पुरुषार्थी पर गर्व एवं हर्ष का अनुभव करती है तथा ऐसे पुरुषार्थी की आवश्यकता कवि मन को भी होती है जब वह 'विषमता' कविता में कहता है-

''क्षमा दया रोती है, सिसक रही मानवता।
नाच रही पशुता है विहँस रही दानवता।''[7]

पूर्व में ही स्पष्ट कर दिया गया है कि कवि के मन में विश्ववंधुत्व की डोर में बंधी सद्‌भावना एवं समरसता से युक्त समाज एवं राष्ट्र की परिकल्पना है जहाँ न कोई दीन हो न दुखी, जहाँ न किसी का शोषण हो और न उत्पीड़न। परन्तु इस परिकल्पना को मूर्तित करने के लिए पुरुष में जिस ऊर्जा एवं शौर्य की आवश्यकता होती है, उसी की खोज एवं चिन्तन कवि की इन पंक्तियों में मूर्तित हुआ है-

झकझोरो तोड़ो तमकारा ज्ञान विभा फैलाओ।
रत्न काढ़कर अगम सिन्धु से रत्नाकर कहलाओ।[8]

कवि का पुरुष प्रीति की प्रतीति भी कराता है तथा सृष्टि में सौन्दर्य एवं शान्ति की पराकाष्ठा एवं भव्यता का निर्माण भी करता है कवि की 'भावयोग' कविता की इन पंक्तियों में इस भाव का अद्‌भुत अंकन हुआ है-

कि प्रीति के पराग में समा रहा समीर बन।
समीर राजमय हुआ पराग में अधीर बन।।
विरज अजा अजर बनी कि युक्त योगधाम में।
कि अज बना स्वयं अजा अमर्त्य के प्रकाश में।।
असंख्य संख्य हो गया कि संख्यता चली गई।
अपार पार में मिला कि भव्यता समा गई।।[9]

अंतिम दो पंक्तियों में जिस भाव का विकास हुआ है, उसी से सक्षम राष्ट्र का विकास होता है। एक राष्ट्र में रहने वाले विभिन्न भाषा-भाषी, धर्म सम्प्रदाय एवं क्षेत्रीयता से युक्त लोग जब आपसी विभिन्नताओं को छोड़कर जीना शुरू करते हैं तो एकता का विकास होता है तथा इसी एकता से राष्ट्र की राष्ट्रीयता, प्रौढ़ता एवं पूर्णता को प्राप्त करती है और इसी चेतना का विकास इन पंक्तियों में दिखाई पड़ता है-

विशुद्ध भावना पले यहाँ प्रबुद्ध लोग में।
विकास स्नेह का सघन सुघर सुयोग में।।
कि मूल्य आँकने लगे मनुष्य जीव धर्म का।
महान शक्ति श्रेय में प्रवेग हो सुकर्म का।।[10]

कवि मन पर सुन्दर राष्ट्र की परिकल्पना का प्रभाव इतना स्पष्ट है कि दारुण दग्ध ता उत्पन्न करने वाला सूर्य भी इन्हें तारुण्य का आह्‌वान करता हुआ दिखता है। तभी तो-

''चिर तरुण तारुण्य का आह्‌वान है
विश्व में इसका नहीं उपमान है
यह बना मंगल अमंगल में सदा
लोक में आलोक का प्रतिमान है''।।[11]

वैर निर्वैर हुए बिना न तो राष्ट्र एवं समाज में समरसता स्थापित की जा सकती है और न ही स्वयं का भी मानसिक विकास संभव हो पाता है। आचार्य शुक्ल ने भी वैर को विकास की राह का रोड़ा माना है तथा यही कारण है कि कवि अपने 'अध्यात्म' नामक कविता में विकास विरोधी वैर को इस रूप में चित्रित किया है-

''हो सदा निर्वैर जो रहता भुवन में,
मन तपोवन में निरत जो रम रहा है

लख वही पाता सजग सर्वज्ञ प्रभु को
चित्त में समता लिये जो चल रहा है''।[12]

कवि की रचना में नारी के जिस रूप का चित्रण हुआ है, उसमें राष्ट्रीय चेतना का प्रगाढ़ विकास परिलक्षित होता है-

''यह आनन्दमयी प्रतिमा है
जीवन ज्योति जगाती।
भुवन मोहिनी बन भूमा का
वैभव आज लुटाती।
तथा- योगी जन के तपश्चरण की
मूर्तमान की प्रतिमा।
बिहस रही आनन्द-चेतना
या भूतल की गरिमा।[13]

सच है नारी भूतल की गरिमा होती है तथा जिस राष्ट्र की नारियों में इस गरिमा-भाव का विकास जितनी अधिक मात्र में दिखाई पड़ती है, उस राष्ट्र की राष्ट्रीयता उसी मात्र में विकसित मानी जाती है।

कवि कर्मयोग में कर्म की महत्ता का जब वर्णन करता है तो इसमें भी राष्ट्र को समर्थ रखने में मनुष्य की महत्ता के भाव को प्रकट करता है-

कर्म निरत होकर वह प्रतिपल
जीवन में बढ़ता है
ले पाथेय सुघर कर्मों का
नव जीवन गढ़ता है।
तथा-हीन प्रणीत मनुज बनता है
कर्म शुभाशुभ चय से।
बनता नर पावन अति सुन्दर।
उत्तम धर्म विजय से।।[14]

इन पंक्तियों में कर्म की महत्ता का सुन्दर वर्णन हुआ है-

हो गतिमान अभय पथ पर जो
नर पुङ्व है बढ़ता
निरलस होकर प्रभालीन नव
शृंगों पर है चढ़ता।।[15]

मनुष्य जब गतिमान होकर कर्तव्य पथ पर आरूढ़ होता है तो सफलता उसका वरण अवश्य करती है तथा राष्ट्र उस पर गौरव करता है तथा राष्ट्रीयता को नया बल मिलता है एवं राष्ट्र की चेतना में नई ऊर्जा समाहित होती है। सफल मनुष्य के जीवन में कभी भी विरोध एवं वैर की भावना का स्थान नहीं होता है। वह समाज एवं राष्ट्र में शान्ति एवं एकता का पक्षधर होता है तथा इसके लिए वह सतत प्रयत्नशील रहता है। तभी तो इस भाव का प्रस्फुटन कवि की शुद्ध प्रकृति रचना 'चाँदनी' में भी हो ही गई है-

न द्वैत दीखता कहीं न दीखता विरोध है।
द्विधा नहीं न भेद है, प्रपंच का निरोध है।।[16]

सफल मनुष्य जब भगीरथ परिश्रम करता है तो पृथ्वी पर गंगा का अवतरण होता है। गंगा एक नदी नहीं है, बल्कि यह जिस देश में प्रवाहित होती है उस देश को महिमामंडित करने वाली ऐसी राष्ट्रीय प्रतिमान है, जिसकी लालसा प्रत्येक राष्ट्र अपने यहाँ पालते हैं। गंगा को प्राणमयी बताते हुए कवि कहता है-

भक्त भगीरथ के श्रम तप की
प्राणमयी यह प्रतिमा
विलस रही भूतल पर अविरल
बन नूतन तप गरिमा।

यह यथार्थ है कि तपश्चेतना से युक्त मानव का श्रम संघर्ष जब फलीभूत होता है तो पृथ्वी पर सारे साधन सुलभ हो जाते हैं। राष्ट्र मजबूत एवं समर्थ होता है तथा राष्ट्रीयता चमत्कृत होती है। इसी भाव का चित्रण इन पंक्तियों में दृष्टिगत होता है-

भीष्म प्रसू यह कर्म योगिनी।
ध्यानमयी चिर धन्या।।
जन जीवन को तप:पूत कर।
बनती यही अनन्या।।[17]

राष्ट्रीय चेतना की भव्यता इन पंक्तियों में अद्‌भुत रूप से उद्‌घटित हुई है-

घन अमंगल में नवल, मंगल जगाकर।
द्रोह में विद्रोह की कुण्ठा मिटाकर।।
तिमिरचय में ज्योति की प्रतिमा नयी गढ़।
हँस रहा यह नव सृजन संगीत गाकर।।
तथा- रण विजय या विश्व में जीवन जगाने।
अनवरत अन्त: करण का प्यार पाने।।
कर समर्पित शक्ति सुख सुषमा सुरभ्या।
बढ़ रहा यह व्योय तक जग को उठाने।।[18]

समुन्नत चेतना से युक्त इस राष्ट्र का स्वरूप कितना सुन्दर है इसका चित्रण इन पंक्तियों में दर्शनीय है-

''हो न खंडित राष्ट्र भारत ज्ञानमय हो।
आक्रमणकारी नहीं विज्ञानमय हो।।
प्राण के जयगान से हर रुदन जग का।
भर विभा मंजुल सदा यह प्राणमय हो।।[19]

यही कारण ही इस राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रीय चेतना का क्षरण होने से बचने के लिए कवि जागरण भी रचता है तथा कहता है-

जागरण में ज्योति पलती।
भर विपुल छविधाम।
जय वही पाता जगत में।
जो सदा गतिमान।[20]

कवि की राष्ट्रीय चेतना इन पंक्तियों में भी दृष्टिगोचर हुई है जब राष्ट्र के भौगोलिक रूपरेखा का चित्रण किया गया है-

कनकशस्यों का कमल कर में लिये नव!
शोभती बन भारती ज्योतिमयी नव।
है वसन सागर सुघर इसके समुज्जवल।
रत्नमणियों से विमण्डित अतुल अभिनव।।[21]

राष्ट्रीय चेतना का विकास राष्ट्र के धरोहरों में भी प्रस्फुटित हुआ है-

''नालन्दा'' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ काफी मोहक एवं मनोरम हैं-

शीलभद्र के चरण कमल में ह्वेनसांग था आया।
अमर परमदृश्वा ज्ञानीबन विश्वमंच पर छाया।।
ज्ञानपिपासा-तृप्ति-हेतु सब देश-विदेश निवासी।
छात्र विपुल आये थे पढ़ने बनकर अन्तेवासी।।[22]

इस प्रकार यह अवधेय है कि अनन्वय की अधिकांश कविताओं में राष्ट्रीय चेतना का प्रस्फुटन मणिकांचन सद्भाव के साथ हुआ है। अनन्वय में संकलित किसी भी कविता को देखने पर यह परिलक्षित होता है कि सर्वत्र भाषा भावानुगामिनी है। भाषा में जहाँ प्रसादिकता है वहाँ प्राजंलता भी विद्यमान है। भावपक्ष और कलापक्ष की दृष्टि से भी कविताओं में उन्नत विचारों का प्रतिपादन उत्कृष्टतापूर्वक हुआ है। कवि की भाषा में प्रौढ़ता

के साथ उर्जस्विता की भावना भी अनुस्यूत हो गयी है। राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत कविताओं की भाषा में चित्रात्मकता, कथ्य की उदात्तता और भावों के प्रतिपादन की महत्ती क्षमता परिलक्षित होती है।

## सन्दर्भ सूची


1. अनन्वय भारती वन्दना, पृ०-9
2. अनन्वय बादल, पृ०-11
3. अनन्वय साधना, पृ०-31
4. अनन्वय साधना, पृ०-31
5. अनन्वय सप्तपदी, पृ०-33
6. अनन्वय वसन्त, पृ०-35
7. अनन्वय विषमता, पृ०-40
8. अनन्वय वीरमनस्वी, पृ०-37
9. अनन्वय भावयोग, पृ०-41
10. अनन्वय जागरण, पृ०-43
11. अनन्वय दिनमान, पृ०-46
12. अनन्वय अध्यात्म, पृ०-47
13. अनन्वय बाला, पृ०-52, 54
14. अनन्वय कमयोग, पृ०-56, 58
15. अनन्वय अप्रमाद, पृ०-63
16. अनन्वय चांदनी, पृ०-67
17. अनन्वय गंगा, पृ०-72, 73
18. अनन्वय राष्ट्रभारत, पृ०-79, 80
19. अनन्वय राष्ट्रगरिमा, पृ०-88
20. अनन्वय जागरण, पृ०-96
21. अनन्वय भूमिवन्दन, पृ०-104
22. अनन्वय नालन्दा, पृ०-115

डॉ० ब्रजबिहारी पाण्डेय, हिन्दी-विभाग ओरियंटल कॉलेज, पटना सिटी, पटना 800008,
मो० न0 9334279411

# *हिंदी की आरंभिक पत्रा–पत्रिकाओं में प्रकाशित विज्ञापनों में वैज्ञानिक चेतना एवं अंधविश्वास की उपस्थिति*

● आशुतोष पार्थेश्वर

**दो घटनाएँ हिंदी समाज में इस समय एक साथ घटती हैं। एक मध्यवर्ग का उभार और दूसरा उपभोक्ता संस्कृति का विकास। इन दोनों में अविभाज्य संबंध है। अंग्रेजी और अन्य विदेशी व्यापार ने एक ओर उपभोक्ता संस्कृति को मजबूती प्रदान की तो राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन ने सशक्त पूँजी से संपन्न विदेशी व्यापार के समकक्ष देशी व्यापार को विकसित होने का मौका दिया। इस समूचे परिदृश्य में विज्ञापनों का महत्त्व बढ़ता गया।**

विज्ञापन संवदिया होते हैं। वे किसी विचार, उत्पाद या सूचना के प्रचारक-प्रसारक की भूमिका निभाते हैं। स्वभावत: किसी समाज को देखने-समझने के लिए बेहद दिलचस्प और काफी हद तक भरोसेमंद खिड़की का भी काम करते हैं। लेकिन यहाँ एक बात बहुत साफ तौर पर समझनी चाहिए कि सामयिक यथार्थ से किसी विज्ञापन का संबंध एकरैखिक नहीं होता है बल्कि वह एक बेहद जटिल सूत्र से जुड़ा होता है। एक विज्ञापन में केवल उत्पाद ही नहीं, बल्कि उस वस्तु का समूचा सामाजिक परिप्रेक्ष्य उपस्थित होता है। समाज में उसके प्रयोग का इतिहास, उस प्रयोग का वर्गीय स्वरूप, उसके प्रयोग की संभावनाएँ आदि कई विषय एक विज्ञापन में उपस्थित होते हैं। भारतीय परिप्रेक्ष्य में इस विषय पर विचार करना तनिक अधिक चुनौतीपूर्ण है। जितनी विविधताएँ और उन्हीं के अनुरूप जटिलताएँ इस समाज में हैं; विज्ञापनों का 'संवाद' भी उतना ही बहुस्तरीय है। भारतीय समाज की बहुप्रसिद्ध श्रेणीबद्धता एवं उच्चानुक्रम का इन विज्ञापनों से कैसे जुड़ाव होता है, यह समूचा प्रसंग अत्यंत रोचक है।

इस प्रसंग के विस्तार में जाने से पहले भारत में विज्ञापनों के इतिहास का संक्षिप्त आकलन अप्रासंगिक न होगा। विज्ञापनों का इतिहास भारत में प्रेस एवं पत्र-पत्रिका के इतिहास से जुड़ा है। भारत

में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का सिलसिला अठारहवीं सदी में शुरू हुआ। 26 जनवरी 1780 को 'बंगाल गजट ऑफ कलकत्ता जनरल एडवरटाइजर' के प्रकाशन के साथ भारत में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन की शुरूआत होती है। इसे प्रकाशित करने का श्रेय जेम्स आगस्टस हिकी को है। इसमें खोया-पाया, शराब, लाटरी, नीलामी आदि के विज्ञापन छपते थे। 1782 में इसके बंद होने के बाद पीटर रीड ने 'इंडिया गजट' का प्रकाशन किया जिसमें सरकारी आदेश, सूचनाएँ छपती थीं।[1]

विज्ञापनों का निरंतरता के साथ प्रकाशन की बात करें तो यह सिलसिला उन्नीसवीं सदी में शुरू हुआ। उन्नीसवीं सदी के आरंभ में 'उत्तरराम चरित', 'डॉयलॉग ऑफ कृष्ण एंड अर्जुन', 'भगवत गीता', 'आइने-अकबरी' के विज्ञापन भी देखने को मिलते हैं।[2] यही वह समय है जब भारतीय अर्थव्यवस्था पहले ईस्ट इंडिया कंपनी और बाद में ब्रिटिश शासन के कब्जे में पूरी तरह से आ जाती है। भारतीय अर्थव्यवस्था में पूँजीवाद की केंद्रीय भूमिका इसी समय शुरू होती है। पूँजीवादी बाजार व्यवस्था में विज्ञापनों का अपना महत्त्व है। अपने उत्पाद के प्रचार-प्रसार, उपभोक्ता वर्ग की जागरूकता, समानधर्मी उत्पादों से प्रतियोगिता आदि कारणों से विज्ञापनों की भूमिका धीरे-धीरे बढ़ती गई। स्मरण रहे कि हिंदी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी उन्नीसवीं सदी में ही शुरू हुआ। 30 मई 1826 ई० को कलकत्ता से पंडित जुगुलकिसोर सुकुल (युगल किशोर शुक्ल) ने उदंत मार्त्तंड (साप्ताहिक) का प्रकाशन शुरू किया। लेकिन अर्थाभाव में 18 दिसंबर 1927 को यह बंद हो गया।[3] कलकत्ता से ही दूसरा साप्ताहिक 'बंगदूत' 10 मई 1829 को निकला। अधिक दिनों तक यह नहीं निकल सका।[4] इस पत्र के संपादक नीलरतन हालदार थे और विशेष बात यह है कि राजा राममोहन राय भी इससे जुड़े थे। यह एक तथ्य है कि इन आरंभिक पत्रों में भी विज्ञापन प्रकाशित हुए थे।[5]

पत्र-पत्रिकाएँ कई तरह का कार्य कर रही थीं। नए ज्ञान का प्रसार एवं देश-दुनिया से पाठकों को जोड़ना इनका एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। इनका कार्य केवल पाठकों का मनोरंजन करना ही नहीं, बल्कि उनकी रुचि का परिष्कार करना भी था। दो घटनाएँ हिंदी समाज में इस समय एक साथ घटती हैं। एक मध्यवर्ग का उभार और दूसरा उपभोक्ता संस्कृति का विकास। इन दोनों में अविभाज्य संबंध है। अंग्रेजी और अन्य विदेशी व्यापार ने एक ओर उपभोक्ता संस्कृति को मजबूती प्रदान की तो राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन ने सशक्त पूँजी से संपन्न विदेशी व्यापार के समकक्ष देशी व्यापार को विकसित होने का मौका दिया। इस समूचे परिदृश्य में विज्ञापनों का महत्त्व बढ़ता गया। वे अनिवार्य होते गए। सपाटबयानी से शुरू हुआ विज्ञापनों का कलेवर धीरे-धीरे आकर्षक होता गया। विज्ञापनों

में धीरे-धीरे कई चीजें प्रवेश पाती गईं। ऐसा ही एक प्रवेश था– अंधविश्वास का। गौरतलब है कि पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञापनों के आरंभिक दौर में अंधविश्वास को बढ़ावा देनेवाले विज्ञापन नहीं रहे या बहुत कम ही रहे। इनकी उपस्थिति बीसवीं सदी की तीसरी दहाई से बढ़ती है। तीसरी दहाई के शुरू होते-होते गाँधी भारतीय राजनीति में केंद्रीय स्थान प्राप्त कर लेते हैं और धीरे-धीरे उनका कद बढ़ता ही जाता है। अब इसे महज संयोग कहा जाए या फिर इसके कुछ निश्चित कारण हैं कि इसी के समानांतर पत्र-पत्रिकाओं में ऐसे विज्ञापन अधिक जगह पाने लगते हैं जिनसे वैज्ञानिक चेतना को धक्का पहुँचता है। विज्ञापनों में वैज्ञानिक चेतना को परखते हुए यह बात याद रखनी चाहिए कि भारतीय समाज में ग्रह-नक्षत्र, जादू-टोना, भूत-प्रेत, ज्योतिष, सामुद्रिक ज्ञान आदि पर अंधविश्वास बहुत गहरा है। यहाँ तक कि इक्कीसवीं सदी के इन वर्षों में वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति के बावजूद इस विश्वास में कोई कमी आई हो, ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। स्वभावत: विवेच्य काल के प्रसंग में इस वैज्ञानिक चेतना को ढूँढ़ने और उससे निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया में सरलीकृत हो जाने के खतरे हैं। सम्मोहन-वशीकरण, जादू आदि के विज्ञापन इस दौर की पत्रिकाओं में बहुत आसानी से देखे जा सकते हैं। यह महज संयोग है या इस नैरंतर्य के ठोस कारण हैं? यों यह केवल गाँधी के केंद्र में आने का वक्त नहीं है, बल्कि आगे चलकर क्रांतिकारी युवाओं का जत्था भी देश की आजादी की लड़ाई में अपनी तरह से सक्रिय होता है। यह एक अलग सवाल है कि 'प्रताप' के संपादक गणेशशंकर विद्यार्थी, 'माधुरी' और 'हंस' के संपादक प्रेमचंद, 'चाँद' के संपादक रामरख सिंह सहगल आदि ने, जिनकी पत्रिकाओं में ऐसे विज्ञापन प्रकाशित हुए, ऐसे विज्ञापनों को अपनी पत्रिका में जगह क्यों दी और ऐसे प्रचार के विरोध में अपना स्वर क्यों नहीं उठाया? क्या यह माना जाए कि व्यावसायिक आवश्यकताओं के सामने वे लाचार थे? एक लेखक-संपादक जो भारतीय समाज की चेतना को उर्ध्वगामी, आधुनिक एवं वैज्ञानिक बनाना चाहता है वही अपनी पत्रिकाओं में इन विज्ञापनों को जगह भी दे रहा था। यह एक विचित्र विरोधाभास है।

इन विज्ञापनों की निरंतरता का एक कारण 1920 तक आते-आते हिंदी के पाठकों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि और उससे जुड़ा बाजार है। एक समय तक पाठकों के सवाल पर हिंदी की जिस तरह की होड़, उत्तर प्रदेश में विशेषकर, उर्दू से थी, उसमें हिंदी काफी आगे निकल जाती है। हिंदी में प्रकाशनों की संख्या भी काफी आगे बढ़ जाती है।[6] जादू-टोना और वशीकरण वाले विज्ञापनों का ही नहीं, बल्कि सभी विज्ञापनों की नजर में उपभोक्ता वर्ग के रूप में मुख्यत: यह नया पढ़ा-लिखा तबका ही था।

पत्र-पत्रिकाओं में जहाँ एक ओर भारतीय समाज के लिए नई तकनीकी चीजें जैसे–कुकर, मशीन, तकनीकी उत्पाद आदि के विज्ञापन प्रकाशित हो रहे थे, वहीं करामाती अँगूठी और लॉकेट के भी। एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

"करामाती अँगूठी–इसको विधि अनुसार देखने से मृत आत्माओं के दर्शन व प्रवासी मित्रों से मुलाकात, चोरी का पता, मुकद्दमा व इम्तहान की सफलता का हाल, रोगी का परिणाम आदि जो चाहें मालूम कर लें।"

त्रिकालदर्शी मैस्मरेजी आइना– भारतीय मैस्मरेजम का सार-स्वरूप यह आइना बड़े काम की चीज है, जिसे हर शख्स लाभ उठा सकता है। उम्र का कोई लिहाज नहीं। इससे अदृष्ट और गुमशुदा का पता, रोग व मुकद्दमे से छुटकारा होने-न-होने का हाल, भूत व भविष्य की बातें, प्रवासी मित्रों व प्रेमियों के दर्शन व मृत आत्माओं से मुलाकात, इम्तहान की सफलता, गड़े धन का हाल, चोरी का पता, रोजगार की उन्नति, भाग्य का फेर, गरजे कि सब कुछ जान सकते हैं।

बरकी लाकेट– इसको गले में पहनाने से बच्चा चेचक (माता) से सुरक्षित रहता है।

बरकी कड़े– इसके पहनाने से बच्चा अनेक रोगों व दीगर आक्षेपों से सुरक्षित रहता है।"[7]

पत्र-पत्रिकाओं में ऐसे विज्ञापन भी प्रकाशित हुए जो जादू-टोना पर विश्वास उत्पन्न करनेवाले मात्र नहीं थे, बल्कि जादू-टोना सिखानेवाले भी थे। यह समूचा हाल तब है जब एक ओर देश आजादी की लड़ाई में व्यस्त था। विज्ञापनदाताओं ने हजारों-हजारों साल से आम लोगों के मन-मस्तिष्क में पैठे भय, लोभ एवं पिछड़ेपन का बखूबी उपयोग किया। जादूगरी, सम्मोहन, वशीकरण, सिद्धीकरण, तांत्रिक विद्या की किताबों के विज्ञापन इस दौर में खूब प्रकाशित हुए–

"जादूगरों का बाबा/मेस्मरेजम, योग, सम्मोहन, आकर्षण तथा तांत्रिक विद्या घर बैठे सीखने के लिए प्राचीन योगियों की यह गुप्त पुस्तक....."[8]

इसके विज्ञापनदाता का नाम भी कम रोचक नहीं है– 'गुप्त विद्या प्रचारक आश्रम'।

कुछ अन्य विज्ञापन द्रष्टव्य हैं–

असली वसीकरण यंत्र– हर एक स्त्री पुरुष और मन चाहे जिसका वश कर लो।[9]

वर्षफल– सिर्फ नाम या पता लिख भेजने से साल भर का सुख-दुख, हानि-लाभ आदि का पूरा-पूरा पता केवल 1रु० में यदि न मिले तो दाम वापिस।[10]

सामुद्रिक विद्या– मुख आदि अंगों को देखकर ही चोर, ठग, नेक-बद, धनी-निध ‍न, बाँझ-विधुर जिंदगी और मौत की बात आप बता सकते हैं।[11]

ऐसे विज्ञापनों की भरमार पत्र-पत्रिकाओं में है। वशीकरण सुरमा का एक विज्ञापन देखें–

"अगर आप किसी स्त्री-पुरुष, हाकिम, अफसर, मालिक को वश में करना चाहते हैं, अगर पति पत्नी से प्रेम नहीं करता या पत्नी की इच्छानुकूल कार्य नहीं करता या पत्नी को हर समय तंग करना, दुखित रखता है, कहा नहीं मानता तो पत्नी वशीकरण अंजन सेवन करें, जिसके प्रभाव से पति अपने प्रथम अनुचित कर्मों का पश्चाताप कर पत्नी की साक्षात लक्ष्मी की तरह पूजा करेगा, यह एक सिद्ध बात है। अगर पत्नी बदजबान है, हर समय आपको अपने आचार-व्यवहार से दुखित रखती है, आपका घर कोलाहल से पूर्ण, सुख-शांति, प्रेम और धन-संपत्ति से वंचित है तो वशीकरण अंजन सेवन कर आप विश्व भर की सुख शांति और प्रेम के भंडार के स्वामी बनें।"[12]

ये विज्ञापन जिस विषय पर केंद्रित हैं, वह समाज में बहुव्याप्त है। एक ऐसा समाज जो रूढ़िवादी, अशिक्षित और बेहद पिछड़ा हुआ है, वहाँ इस तरह के अंजन, टोटके-ताबीज के लिए बहुत बड़ा स्पेस होता है। इक्कीसवीं सदी के इन वर्षों में भारत जैसे देश में जहाँ चाँद पर बसने और मंगल की यात्रा की तैयारी दिखाई देती है, टोने-टोटके भी खूब मिलते हैं। गौरतलब यह है कि पत्र-पत्रिकाओं के आरंभिक काल की ही तरह दूरदर्शन के आरंभिक दौर में जादू-टोना, तंत्र-मंत्र, भूत-प्रेत वाले कार्यक्रम नहीं आते थे। भारत में मुक्त बाजार और निजी चैनलों की आमद के बाद ऐसे कार्यक्रमों की बाढ़ आ गई। तात्पर्य यह है कि इस अंधविश्वास का केवल पिछड़ेपन और अशिक्षा से ही नहीं, पूँजीवाद से भी गहरा नाता है। इन वर्षों में यह जादू, सम्मोहन आदि धार्मिक कर्मकांडों के आवरण में आया है। बाजार ने एक सामान्य उपासना पद्धति को बदलकर उसे वृहद कर्मकांडी आयोजन में बदल दिया है और बहुत चुपके और शातिराना तरीके से तंत्र-मंत्र के लिए स्वीकार्यता उपलब्ध करा दी है। क्या यह महज संयोग है कि इन बीस-पचीस वर्षों में जितनी संख्या में 'साधुओं-संतों-बाबाओं' का प्रकटीकरण हुआ है, उतनी ही संख्या में देश के विभिन्न कोने में 'शनि मंदिर' भी बने हैं।

विवेच्य काल के विज्ञापनों में इसके पूर्व रूप देखे जा सकते हैं। 'माधुरी' में दिसंबर 1930 में प्रकाशित 'लक्ष्मी हनुमान कवच' के इसी तरह के एक विज्ञापन में इस बात का दावा किया गया था कि इसकी वजह से '1900 मुकद्दमे नदीया सेसन कोर्ट और 1910 मुकद्दमे फरीदपुर कोर्ट' से विजयी होना संभव हुआ तथा यह 'देश-विदेश के बहुसंभ्रांत मनुष्य से प्रशंसित, प्रत्यक्ष फलप्रद' है।

चमत्कार के प्रति आकर्षण और श्रद्धा को भुनाने के बेहतर उदाहरण के रूप में इस काल में प्रकाशित आयुर्वेदिक दवाओं के कतिपय विज्ञापनों को भी देखा जा सकता है। दवाएँ अपना काम अपने ढंग से करती हैं, पर उस दवा पर जन सामान्य का विश्वास पक्का किया जाए, इसलिए उसे इस तरह से विज्ञापित किया जाता था कि वह किसी महात्मा या सिद्ध फकीर से प्राप्त है। 'फकीरी जड़ी' का एक विज्ञापन द्रष्टव्य है–

"मुझे एक प्रसिद्ध महात्मा की कृपा से एक अमूल्य जड़ी मिली है और उसे मैं अपने देश के दुखियों की सहायता के लिए विख्यात करता हूँ। जो आदमी चरक या कुष्ट से अति दुखित हों वे इस जड़ी को तीन बार लेप लगाकर आरोग्यता को प्राप्त करें, पुरानी गर्मी कैसी ही क्यों न हो सिर्फ सात गोली के सेवन करने से जड़मूल से जाती रहती है।"[13]

पुत्रदावटी के विज्ञापन में भी कुछ ऐसे ही चमत्कार का पुट है–

"जैसे गंध बिन फूल, नमक बिन भोजन नीरस होता है, वैसे ही जिनकी गोद में लाड़ले लाल नहीं उनके लिए–औलाद बिन घर नहीं जग सूना है इसलिए मुफ्त पुत्रदावटी (शर्तिया लड़का ही हो) सेवन करो। बहनो व भाइयो! इस वटी के गुण में तो शायद ही किसी को शक हो क्योंकि अनजान से अनजान व्यक्ति भी जनता है कि इस पुत्रदावटी के सहारे ही कौशल्या महाराणी की गोद रामचंद्र जैसे सुपुत्र से भरी थी, साथ ही यह भी सब जानते हैं कि इसी की खोज में आज सैंकड़ों बहनें सच्चे साधू न पाकर लफंगों के फंदे में फँसकर क्या कुछ नहीं खो बैठतीं। हाँ अलबत्ता यह एक संदेह हो सकता है कि यह वटी ऐसे गुणोंवाली है, इसमें क्या प्रमाण, सो इसके लिए इसकी असलियत इस प्रकार है कि – मेरी सास (जो करीब 70 वर्ष की वृद्धा होंगी) को किसी साधु ने यह वटी मुफ्त बाँटने के लिए दी थी, सो अपने जीवनकाल में उन्होंने सैंकड़ों बहिनों को इसका सेवन कराया और आज उस ही के फलस्वरूप अनेकों बहिनें कई-कई पुत्रों की माता हो रही हैं, मरते समय वे इस वटी को मुझे बतला गईं और आज कई वर्षों से मैं भी इसका अनुभव कर रही हूँ। इतना फल देख मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि अपने पठित भाई बहनों के कानों तक भी इस के गुण पहुँचाऊँ, अब लाभ उठाना न उठाना आपलोगों के हाथ है, इसके गुण इस प्रकार हैं। पुत्रदावटी नं० 1– जिनके प्रदर, प्रसूत तथा अस्वाभाविक बाँझपन आदि दोषों से गर्भ स्थित ही न होता हो, जो लाखों रु० जादू-टोना आदि में स्वाहा कर चुके हों और फिर भी पुत्र रत्न न पाकर दुखी हों, वे दोनों नंबर की वटीका मँगाएँ। साथ ही अपनी अवस्था, प्रदरादिदोष का पूरा हाल (यदि कोई हो), पति की अवस्था आदि सब खुलासा हाल भेजें ताकि वटी के सेवन में सुविधा हो। पुत्रदावटी नं०

2– जिनके लड़कियाँ ही लड़कियाँ होती हों, संतान जीवित न रहना, दुर्बल होना, गर्भस्राव आदि दोषों के कारण पुत्र रत्न से वंचित हों और अब गर्भवती ही इसका सेवन करे साथ ही गर्भ के दिन मास आदि सब खुलासा लिखें..."[14]

इस अंधविश्वास और पुरुषकेंद्रित समाज व्यवस्था के बीच एक स्पष्ट संबंध यहाँ दिखाई पड़ता है। इस विज्ञापन में एक अंधविश्वास से मुक्ति का प्रलोभन है तो दूसरे अंध विश्वास में बाँधने का प्रयास। भारतीय समाज में बेटे की चाह सबसे 'पवित्र' चाह है! ये विज्ञापन उसे बहुत करीने से भुनाते हैं।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि इस दौर के विज्ञापनों में तकनीकी और वैज्ञानिक उपलब्धियों से आविष्कृत उत्पादों की उपस्थिति है, पर इस उपस्थिति से कहीं अधिक ताकतवर उपस्थिति अंधविश्वास की है। अंधविश्वास को बढ़ावा देने वाले उत्पादों ने एक पूरा मजबूत घेरा बना रखा था। हिंदी में पाठकीयता और पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन में वृद्धि के साथ इसका भी समानुपातिक विकास हुआ। पत्र-पत्रिकाओं के योग्य प्रगतिशील संपादकों-संचालकों ने भी ऐसे विज्ञापनों को यथेष्ट स्थान दिया।

## संदर्भ सूची


1. मधु अग्रवाल, भारतीय विज्ञापन में नैतिकता, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, अप्रैल 1975, पृ०-11
2. आधुनिक विज्ञापन, पृ०-26
3. पं० अंबिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, संवत् 2062, पृ०-93
4. उपरिवत, पृ०-104
5. पं० अंबिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, संवत् 2062, पृ०-95 एवं पृ०-104-105
6. बीसवीं शताब्दी के आरंभ में हिंदी-उर्दू में प्रकाशन और पाठकों की स्थिति जानने के लिए देखें– King Christofer R.; ONE LANGUAGE, TWO SCRIPTS:The Hindi Movement in Nineteenth Century North India; Oxford University Press. 1994. page 41-48.
7. माधुरी, जुलाई 1928
8. उपरिवत, दिसंबर 1930; इस तरह की अनेक पुस्तकों के विज्ञापन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। इसी अंक में 'आप भी लखपती बन जाइए' शीर्षक विज्ञापन के अंतर्गत 'सामुद्रिक विद्या'

# आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की ऐतिहासिक चेतना

● डॉ0 रवीन्द्र पाठक

*द्विवेदीजी इतिहास को आधुनिक संदर्भ में देखते थे। उनके अनुसार इतिहास की सार्थकता तभी है जब वह वर्तमान के लिए प्रासंगिक बन सके। इतिहास मानव के विकास, संघर्ष और जिजीविषा के लिए किए गए जद्दोजहद की कहानी है। इतिहास मनुष्य को अपने अतीत में झाँकने का एक अवसर देता है। वह एक ऐसा पफलक या दर्पण है जिसमें विगत समय का चेहरा स्पष रूप में देखा जा सकता है।*

ऐतिहासिक चेतना का अर्थ इतिहास के प्रति चैतन्यता या जागरूकता से लिया जा सकता है। किसी साहित्यकार के विषय में 'ऐतिहासिक चेतना' शब्द के प्रयोग का अर्थ यह हुआ कि वह इतिहास के प्रति कितना सजग है? उस साहित्यकार की इतिहास के प्रति क्या धारणाएँ हैं? इतिहास के बारे में उसके क्या विचार हैं? इतिहास को वह किस प्रकार देखता है तथा अपनी रचनाओं में वह इतिहास का प्रयोग किस रूप में करता है? इस लेख में इन्हीं प्रश्नों के आलोक में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की ऐतिहासिक चेतना की पड़ताल करने का प्रयास किया गया है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ऐसे साहित्यकार थे जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से हिंदी साहित्य को अप्रतिम भेट दी। उन्होंने साहित्य की जिस विधा को अपने लेखन का विषय बनाया उसे नई ऊँचाइयाँ और नई दृष्टि प्रदान की। चाहे निबंध हो, कवियों –साहित्यकारों पर समीक्षा–ग्रंथ अथवा उपन्यास हों– सभी नए आयामों और नए आलोक के साथ हमारे समक्ष प्रस्तुत होते हैं।

जहाँ तक द्विवेदीजी की ऐतिहासिक चेतना का प्रश्न है उसमें भी वे अपने समकालीन लेखकों से ही नहीं, वरन् हिंदी साहित्य के सभी लेखकों से अलग खड़े नजर आते हैं। वे हिंदी साहित्य में एक नए इतिहास–बोध के साथ आए थे तथा हिंदी साहित्य को इतिहास को देखने का एक नया नजरिया प्रदान किया। द्विवेदीजी की ऐतिहासिक चेतना का पता हमें विभिन्न लेखों में अभिव्यक्त उनके इतिहास संबंधी विचारों, उनके ऐतिहासिक उपन्यासों एवं हिंदी साहित्येतिहास के लेखन से चलता है।

द्विवेदीजी ने कई लेखों में अपने इतिहास संबंधी दृष्टिकोणों का स्पष्ट उल्लेख किया है। उनके अनुसार इतिहास में जो कुछ लिख दिया जाता है वह सब कुछ सत्य नहीं होता। इतिहास अपने आप में वस्तुनिष्ठ होते हुए भी वह इतिहासकार की धारणाओं तथा उसके व्यक्तिगत दृष्टिकोणों से प्रभावित होता है। इतिहास के स्रोत यहाँ-वहाँ बिखरे मिलते हैं जिसे इतिहासकार अपनी कल्पना और समझ से जोड़कर अखंड रूप प्रदान करता है। इसलिए इतिहास की इन बिखरी कड़ियों को जोड़ने वाली विचार-सरणी या कल्पना केवल ऊपरी वास्तविकता ही होती है। यह इतिहासकार की व्यक्तिगत धारणाओं या दृष्टिकोण की प्रतिकृति होती है। यदि दृष्टिकोण या धारणा बदल जाए तो एक ही ऐतिहासिक स्रोत अथवा घटना का अर्थ भी बदल जाता है, इसीलिए द्विवेदीजी इतिहास की घटनाओं में अंतर्निहित मनुष्य की जिजीविषा और विपरीत परिस्थितियों के प्रति उसके अनवरत संघर्ष को इतिहास का सत्य मानते थे, क्योंकि यही सत्य उसे अतीत से भी जोड़कर रखता है तथा उसके वर्तमान को भी अनुप्राणित करता रहता है। इसी से मानव का उत्थान होता है। अतः सच्चा इतिहास वही है जो मनुष्य की इस सतत विकासोन्मुख सत्य का उत्तरोत्तर विकास दिखाए। बाकी घटनाएँ तो ऊपरी कलेवर की तरह हैं जिसमें हमेशा परिवर्तन होता रहता है। इस कलेवर के पीछे छिपी आत्मा को पहचानना और उसपर पड़े समय की धुंध को हटाकर उसका स्वरूप स्पष्ट करना ही इतिहासकार का, खासकर, इतिहास का साहित्य में प्रयोग करने वाले रचनाकार का, उद्देश्य होना चाहिए।

द्विवेदीजी ने इसी अर्थ में अपने उपन्यासों के माध्यम से इतिहास की पुनर्सजना की है। उन्हीं के शब्दों में-''सोचा जाए तो जिसको इतिहास कहा जाता है वह क्या है? क्या इतिहास में जो कुछ लिखा है वह सब विश्वास करने योग्य है? जिसको इतिहास कहा जाता है उसमें एक अटकल ही रहती है। उसमें भी बातों को जोड़-तोड़कर कल्पना से एक मूर्ति खड़ी की जाती है। इतिहास केवल ऊपर ही ऊपर की वास्तविकता को देखता है। उस अंतर्निहित सत्य को नहीं देखता, जो मनुष्य के उत्थान में सहायक हुआ है। इतने युगों से मनुष्य गिरता हुआ, कष्ट पाता हुआ भी आगे बढ़ रहा है, उसके भीतर की जो ज्योति जल रही है हम उसकी तस्वीर पेश करते हैं। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि आज जो मनुष्य है, वह हजार वर्ष पहले भी मनुष्य था। उसमें भी प्रेम था, पीड़ा थी, आकांक्षा थी और अन्याय से जूझने का प्रयत्न था। जो भावनाएँ मनुष्य के भीतर हैं, वह किसी न किसी रूप में पहले भी थीं और उन्होंने इतिहास को रूप दिया है। वास्तविक इतिहास मनुष्य की उस चिंतन-वृति को अभिव्यक्ति देता है, जिससे वह निरंतर निखरता गया है और अनेक कठिनाइयों के बावजूद आगे बढ़ता चला जा रहा है। इतिहास की 'थ्योरी' आए दिन

बदलती रहती है, पर जो इतिहास परक उपन्यास हैं यदि उनमें सचमुच रस हुआ तो वे सदा रहेंगे। मैं सिर्फ यह कहना चाहता हूँ कि ऐतिहासिक पात्रों का सहारा लेकर मैंने इसकी सृष्टि की है और रस से बड़ा कोई न्याय नहीं है।''[1]

द्विवेदीजी की इतिहास संबंधी धारणा का पता हमें मनोहर श्याम जोशी को 'आलोचना' के लिए दिए गए साक्षात्कार से भी चलता है। जब जोशीजी ने उनसे प्रश्न किया कि आपको इतिहास से इतना प्रेम क्यों है? क्या यह भी एक तरह का पलायन नहीं? इसपर द्विवेदीजी ने उत्तर में यह कहा-''इतिहास मनुष्य की तीसरी आँख है। एक गुजराती छात्र था शांति निकेतन में, जरा सिरफिरा सा, एक दिन पूछ बैठा कि यदि ईश्वर को बुद्धि है तो उसने मनुष्य को दो आँखें सामने क्यों दी? एक पीछे क्यों नहीं दी? इसका एक जवाब फौरन यह सूझा कि ईश्वर नहीं चाहता था कि मनुष्य पीछे की ओर देखे। लेकिन बाद में सोचा कि ईश्वर ने मनुष्य को पीछे देख सकने वाला नेत्र दिया है और वह है उसका इतिहास-बोध। इतिहास प्रेम की बात मैं नहीं जानता, मगर इतिहास-बोध को पलायन समझना आधुनिकता नहीं, आधुनिकता विरोध है। आधुनिकता की तीन शर्तें हैं-एक इतिहास-बोध, दूसरी इहलोक में ही कल्याण और तीसरी व्यक्तिगत कल्याण की जगह सामूहिक कल्याण की एषणा। मैं आग्रहपूर्वक यह कहना चाहता हूँ कि जो इतिहास को स्वीकार न करे, वह आधुनिक नहीं और चेतना को न माने, वह इतिहास नहीं।''[2]

महान इतिहासकार ई०एच०कार ने भी इस बात की पुष्टि इस रूप में की है-''महान इतिहास तभी लिखा जाता है जब इतिहासकार की अतीत दृष्टि समकालीन समस्याओं की अंतर्दृष्टि द्वारा प्रकाशित होती है।''[3]

इसप्रकार द्विवेदीजी इतिहास को आधुनिक संदर्भ में देखते थे। उनके अनुसार इतिहास की सार्थकता तभी है जब वह वर्तमान के लिए प्रासंगिक बन सके। इतिहास मानव के विकास, संघर्ष और जिजीविषा के लिए किए गए जद्दोजहद की कहानी है। इतिहास मनुष्य को अपने अतीत में झाँकने का एक अवसर देता है। वह एक ऐसा फलक या दर्पण है जिसमें विगत समय का चेहरा स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। जिस युग में व्यक्ति जीता है उसे वह समग्र रूप में नहीं देख सकता क्योंकि उस समय वह स्वयं तद्युगीन गतिविधियों और कालचक्र का अंग होता है। उस समय युगीन चेतना समग्र रूप से उभरकर सामने आ भी नहीं पाती। भविष्य उसके सामने अंधकारमय ही होता है, इसलिए मानव के सामने बस एक ही विकल्प है और वह है उसका अतीत। व्यक्ति अपने अतीत को ही सम्यक् दृष्टि से देख सकता है तथा उससे प्रेरणा या चेतावनी लेकर आगे का रास्ता तय कर सकता है।

द्विवेदीजी ने इतिहास का उपयोग कच्चे माल की तरह किया है। जिस प्रकार कपास के उपयोग से सुंदर वस्त्र तैयार किए जाते हैं उसी प्रकार द्विवेदीजी ने इतिहास की उच्छृंखल, नीरस और कच्ची कड़ियों को संजोकर मानव की चिरंतन प्रवृत्तियों का सुंदर, सरस और सुगठित आख्यान प्रस्तुत किया है। उनके लिए इतिहास विगत और त्याज्य वस्तु नहीं था और न ही इसका प्रयोग इतिहास की पुनरावृत्ति या गड़े मुर्दे उखाड़ने के समान था। उनके लिए साहित्य में इतिहास के प्रयोग का अर्थ इतिहास के मृत तथ्यों में नई जान फूँकना था, उन्हें अपने समय की संपूर्ण रागात्मिकता, संस्कृति, धर्म तथा सामाजिकता के साथ पुनः जीवंत करना था। द्विवेदीजी के लिए इतिहास स्मारकों, शिलालेखों, पुरातात्विक अवशेषों में कैद अतीत की जीवात्मा था जो आगे आने वाली पीढ़ियों से अपनी मुक्ति की आस लगाए अंदर ही अंदर छटपटाता रहता है कि कब किसी सूक्ष्मदर्शी और सहृदय शव-साधक की दृष्टि उसपर पड़े और उसे फिर से जीवन प्राप्त हो ताकि वह लोगों के जीवन में घुल-मिलकर उनके वर्तमान की विसंगतियों को सुलझाने एवं भविष्य के लिए उसे अनुप्रेरित करने का उपक्रम बन सके।

द्विवेदीजी ने इतिहास के प्रयोग को 'शव-साधना' नाम दिया था। जिस प्रकार एक कापालिक शव-साधना के द्वारा शव में जान फूँकता है उसी प्रकार साहित्यकार अपनी साहित्य-साधना के द्वारा इतिहास को नया जीवन प्रदान करता है और इतिहास जब साहित्य का जीवन-रस पाकर जीवित हो जाता है तब वह तत्कालीन राग-विराग से ऊपर उठकर हमारे लिए सात्विक आनंद की सृष्टि करता है। इतिहास अपने समय के लोगों के लिए भले ही दुखदायी या सुखदायी रहा हो। लेकिन जब इतिहास को वर्तमान की दृष्टि से देखा जाता है तब वह रस का विभाव बनकर ही हमारे सामने आता है। आचार्य द्विवेदी के ही शब्दों में-''मरे हुए जमाने की पीठ पर बैठकर जो पंडित आज ज्ञान की साधना कर रहे हैं वे भी उस प्राचीन मरे हुए काल को उतना ही महत्त्वपूर्ण मान रहे हैं। वह युग हमें दंड नहीं दे सकता, उस युग की कोई सुंदरी अपने विच्छिति-शेष वर्णों से-सिंगारदान के बचे हुए रंगों से-अपने आँचल पर हमारी यशोगाथा नहीं लिखती, उस युग का कोई हूण हमारे नगरों और शास्य को आग में नहीं जलाता-वस्तुतः उस युग का ईर्ष्या-द्वेष, राग-विराग, धर्म-अध र्म हमें स्पर्श नहीं कर सकता, फिर भी हमें वह युग आनंद के अद्‌भुत लोक में उपस्थित कर देता है, हमारी नस-नस में एक अपूर्व भाव-सौंदर्य उज्जीवित कर देता है। उस युग में कोई क्रिया नहीं है। बड़े-बड़े विशाल मंदिर, जयस्तंभ, राजप्रासाद और दुर्ग-प्राकार इस प्रकार खड़े हैं मानो उन्हें हँसते-खेलते बिजली मार गई हो, मानो सम्मुख युद्धों में उन्हें किसी ने मार डाला हो। शव-साधना का इतना बड़ा साधन कहाँ मिलेगा?''[14]

द्विवेदीजी मानव विकास के लिए इतिहास का अध्ययन और इतिहास के मर्म को समझने के लिए विभिन्न कालों में समय के साथ परिवर्तित मनुष्य की मूल संचेतना के उत्थान-पतन को समझना जरूरी समझते थे। उनके अनुसार मानव और इतिहास दोनों एक दूसरे के निर्माण में परस्पर सहयोग प्रदान करते हैं। मानव की जातीय, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं देशीय (स्थानीय या भौगोलिक) संचेतना को समझे बिना इतिहास को नहीं समझा जा सकता। क्योंकि जब व्यक्ति विभिन्न ऐतिहासिक तथ्यों तथा स्रोतों द्वारा इतिहास की बिखरी कड़ियों को जोड़ता है, इतिहास की रचना करता है तो वह इतिहास उसके जातीय, सांस्कृतिक, सामाजिक, एवं देशीय संचेतना के रंग में रंगकर ही सामने आता है। इसी संचेतना की विभिन्नता के कारण एक ही ऐतिहासिक स्रोतों-तथ्यों के आधार पर बुने गए इतिहास में दृष्टिगत भिन्नता दिखाई देती है और यही दृष्टिगत भिन्नता हमें किसी ऐतिहासिक घटना या तथ्य को विभिन्न पक्षों से देखने की समझ देती है तथा उसे वर्तमान के लिए प्रासंगिक भी बनाती है। इसप्रकार मानव इतिहास का निर्माण करता है और इतिहास मानव को बनाने, उसके उत्थान में सहायता प्रदान करता है।

द्विवेदीजी के लिए इतिहास केवल मानव जाति की विगत कथा या विभिन्न खंडों में बिखरी अतीत की घटनाएँ नहीं, बल्कि यह मानव विकास की एक अनवरत और सनातन कहानी है जो नदी की तरह अजस्र प्रवाहित होती रहती है। हम भले ही सुविध ा के लिए इसे विभिन्न कालखंडों में बाँट लें परंतु यह आभ्यंतर से अखंड ही होता है तथा यह वर्तमान से होते हुए भविष्य तक फैला होता है। यही कारण है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी साहित्य के इतिहास के लेखन के क्रम में हिंदी साहित्येतिहास की परवर्ती घटनाओं को पूर्ववर्ती घटनाओं अथवा चितवृतियों का सहज विकास माना है। उनके अनुसार मध्यकालीन भक्ति आंदोलन कोई नया या अचानक खड़ा हो जाने वाला आंदोलन नहीं था, बल्कि आदिकालीन सिद्धों और नाथों द्वारा प्रवर्तित धार्मिक आंदोलन का सहज और ऐतिहासिक विकास था।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में भी उपर्युक्त विचारों का प्रतिफलन मिलता है। चाहे 'बाणभट्ट की आत्मकथा' हो, 'चारू चंद्रलेख' या 'पुनर्नवा'- सबमें उन्होंने इतिहास के उपर्युक्त अंतर्निहित सत्य का उद्‌घाटन किया है। इन उपन्यास में आए ऐतिहासिक कालखंडों की सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक चेतना का व्यापक पैमाने पर प्रकटीकरण ही द्विवेदीजी का मुख्य उद्‌देश्य रहा है जिसमें वर्तमान भी अपने आपको पहचान सके एवं तत्कालीन विसंगतियों से संघर्ष के लिए प्रेरणा पाए। इसके लिए उन्होंने न केवल शिलालेखों, पुरातात्विक अवशेषों आदि से समर्थित इतिहास का

सहारा लिया, बल्कि जनश्रुतियों, लोककथाओं एवं साहित्यिक स्रोतों का भी सहारा लिया है। हालाँकि इनके प्रयोग से उपन्यासों में ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही कुछ असंगतियाँ पैदा हो गई हों लेकिन जिन उपर्युक्त उद्देश्यों को लेकर उन्होंने इतिहास की पुनर्सजना की है उसमें उन्हें आशातीत सफलता मिली है।

द्विवेदीजी इतिहास के माध्यम से किसी कालविशेष की उस जनचेतना को पकड़ने तथा उजागर करने का प्रयास करते हैं जिसमें वर्तमान का प्रतिबिम्बन हो सके। बाणभट्ट का जीवन ऐतिहासिक रूप से एक संस्कृत कवि के रूप में ही प्रसिद्ध है किंतु द्विवेदीजी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में उसे हर्षकालीन जनचेतना का संवाहक एवं देश की अस्मिता एवं संस्कृति के उद्धार के लिए प्रयासरत व्यक्तित्व के रूप में चित्रित किया है और इस रूप में बाणभट्ट का व्यक्तित्व न केवल व्यापक और अधिक उदात्त हो जाता है, बल्कि वह भारत के स्वतंत्रता-संग्राम के लिए कटिबद्ध व्यक्ति का भी प्रतिनिधि बन जाता है। ('बाणभट्ट की आत्मकथा' सन् 1946 में प्रकाशित हुआ था और उस समय भारत की सबसे बड़ी समस्या विदेशी शासन से मुक्ति थी।)

'पुनर्नवा' में उन्होंने आधुनिक युग में विभिन्न संस्कृतियों के प्रभाव से हो रहे सामाजिक और धार्मिक परिवर्तनों एवं समय की मांग के अनुसार नैतिकता और अनैतिकता के बदल रहे मापदंडों को ऐतिहासिक संदर्भ में देखने का प्रयास किया है। उन्होंने इस उपन्यास में चंदा और लोरिक की लोककथा को आधुनिक परिप्रेक्ष्य एवं नए रूप में प्रस्तुत किया है।

'चारू चंद्रलेख' में द्विवेदीजी ने लोगों के धार्मिक आडंबर, अंधविश्वास, अकर्मण्यता तथा आपसी द्वन्द्व एवं द्वेष को मध्यकालीन इतिहास के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। साथ ही यह संदेश भी दिया है कि देश का कल्याण धार्मिक अंधविश्वास और आडम्बर के द्वारा न होकर मानव के अपने पुरुषार्थ पर भरोसा रखकर पूरी निष्ठा से अभीष्ट कर्म में प्रवृत होने से होगा। मध्ययुग आपसी कलह, धार्मिक अंधविश्वास और आडम्बरों में फँसकर ही विदेशी आततायियों का गुलाम हुआ था। उसकी अकर्मण्यता ने उसे महानता के पद से च्यूत एवं दयनीय और अकिंचन बना दिया था।

'अनामदास का पोथा' में द्विवेदीजी ने औपनिषदिक परिवेश एवं दर्शन के माध्यम से व्यक्तिगत मुक्ति के स्थान पर मानव-सेवा को परमधर्म के रूप के स्थापित करने का सफल प्रयास किया है। उपन्यास में माता ऋतंभरा रैक्व को यही बात समझाती हुई कहती है-''यह कभी मत भूलना कि ऐसा तप वास्तविक तप नहीं है जिसमें सब प्राणियों के

सुख-दु:ख से अलग रहकर केवल अपने आप की मुक्ति का ही सपना देखा जाता है। सारा चराचर जगत उसी परम वैश्वानर का प्रत्यक्ष विग्रह है जिसका एक अंश तुम्हारे अंतरतर मे प्रकाशित हो रहा है।''[5]

इस प्रकार द्विवेदीजी इतिहास के प्रति काफी सजग थे। उन्हें इतिहास से विशेष लगाव था और उनका इतिहास प्रेम वर्तमान की समस्याओं और विसंगतियों से घबराकर पलायन का माध्यम नहीं था, बल्कि यह वर्तमान की समस्याओं का ऐतिहासिक और परंपरागत समाधान ढूँढने का एक सशक्त जरिया था। उनकी ऐतिहासिक दृष्टि बड़ी सूक्ष्म, गहन, अभिनव और व्यापक थी। उनके उपन्यासों में उनकी इस दृष्टि का सम्यक् प्रतिफलन हुआ है। उन्होंने ऐतिहासिक उपन्यासों के लेखन में एक नई परंपरा की शुरूआत की थी जो हिंदी साहित्य में ही नहीं, बल्कि पूरे भारतीय साहित्य में अन्यतम और अभिनव है। द्विवेदीजी ने भारतीय वाड्मय का अंत:स्तल तक अवगाहन किया था। यही कारण है कि वे हमारे समक्ष भारतीय संस्कृति और इतिहास के आख्याता एवं उदगाता के रूप में प्रस्तुत होते हैं।

## संदर्भ सूची


1. सारिका-, पृ०-10, नई दिल्ली, 16 सितम्बर, 1979
2. आलोचना, पृ०-45-46, सं० नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, जुलाई-सितंबर, 1967
3. इतिहास क्या है, पृ०-13-14, ई० एच० कार, अनु०-अशोक चक्रधार, दी मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, 1997
4. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-9, पृ०-351, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1981
5. अनामदास का पोथा, पृ०-156, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली, 2010




डॉ0 रवीन्द्र पाठक, सहायक अध्यापक, होली क्रॉस स्कूल, अमृतपाली, बलिया-277001, उत्तर प्रदेश, मो. 9807513251

● नरेंद्र कोहली

# अमरीकन जांघिया

माथुर साहब खुली छत पर खड़े थे। सारा शरीर नंगा था। हनुमानजी के लंगोट के बराबर, छोटा-सा लाल रंग का जांघिया पहन रखा था।

मैं संकुचित हो गया, जैसे पेटीकोट में घर से गली में निकल आई किसी औरत को देखकर सकुचा जाता हूँ। ऐसी स्थिति में मेरी दृष्टि उन पर नहीं पड़नी चाहिए थी। शायद वे बाथरूम से निकले थे, अभी भीतर जाकर कपड़े पहन लेंगे। पर वे अपनी छत का मध्य भाग छोड़ आगे आ गए ताकि गली के जिन कोनों से वे देखे नहीं जा सकते थे, वहाँ भी देखे जा सकें।

मेरे पोंगापंथी मन को बुरा लगा। मैं एक भले आदमी को, भरे मुहल्ले में, इस प्रकार नंग-धड़ंग खड़ा नहीं देख सका। आँखें झुका लीं और चाल तेज कर दी।

'अजी कोहली साहब! नजरें चुराए, कहाँ भागे जा रहे हैं?' वे सीढ़ियाँ उतरकर गली में आ गए।

मैंने अपने मन को डाँटा, 'अबे नंगा वह हैं और शरमा तू रहा है। मर्द बन।'

'आपसे कौन आँखें मिला सकता है माथुर साहब!'

'क्यों जी!' ऐसी क्या बात है?' उन्होंने अपने लाल जांघिए पर प्यार का हाथ फिराया।

'नंगे से तो खुदा भी घबराता है। हम तो फिर आपके मुहल्ले के एक आदमी भर हैं।

उन्होंने अपने भद्दे, थुलथुल शरीर पर गर्व-भरी एक दृष्टि डाली, 'अजी वह तो यूँ ही जरा गर्मी लग रही थी, इसलिए बाहरी कपड़े उतार दिए।'

'हाँ साहब!' आप लोगों को अधिकार है, जब चाहें, अमरीकनों के समान बीच चौराहे पर अपने कपड़े उतार दें।'

'आप तो मजाक कर रहे हैं।' वे मेरे मजाक पर हँस पड़े, 'वैसे यह आपको में ही काट देते थे।'

उनके चेहरे पर मलाल आ गया। अपने उन दिनों की चर्चा शायद उन्हें अच्छी नहीं लगी थी।

'तब की बात कुछ और थी साहब! पर अब गर्मी सचमुच ही अधिक हो गई है।'

'हाँ, हो तो गई है।' मैंने कहा, 'अमरीका ठंडा देश जो ठहरा।'

वे हँसकर मुझे ऐसे टाल गए, जैसे कोई हाथ हिलाकर मक्खी उड़ा देता है।

अब तक मैं कुछ धृष्ट हो गया था। पूछा, 'इंपोर्टेड है?'

'क्या?'

और फिर मेरा तात्पर्य समझ, उन्होंने अपने लाल जांघिए को बड़े प्यार से सहलाया, 'हाँ! हमारी एम्बैसी के मिस्टर किथकिन अमरीका लौट रहे थे। अपना सामान वे ले जाना चाहते नहीं थे। उन्होंने अपनी चीजों की नीलामी की। उसी में से ले लिया है।'

'काफी ऊँची बोली दी होगी।'

उनके स्वर में आकस्मिक आवेश भर उठा, 'अजी साहब! पूछिए मत। बोली तो यूँ ऊपर चढ़ रही थी, जैसे दिल्ली में जमीन के भाव चढ़े हैं। लोग टूटे पड़ रहे थे। मैं तो एकदम निराश हो गया था। पर लगता है, ग्रह अच्छे थे। भगवान ने सहायता की। हायेस्ट बिड मेरी ही रही।'

'न मिलता, तो आपको काफी तकलीफ होती।'

'हाँ, मन को समझा लेते कि अपनी किस्मत में ही नहीं था। पर मिल ही गया।'

वे अत्यंत प्रसन्न थे।

'फिटिंग बढ़िया है।' मैंने मुग्ध दृष्टि से जांघिए को देखा।

'हाँ! काफी कंफर्टेबल है।'

'कोई हिन्दुस्तानी दर्जी तो ऐसी चीज क्या बनाएगा।'

'अजी! राम का नाम लो।' उन्होंने मुँह बनाया, 'यहाँ किस साले को कपड़े सीने का शऊर है। पता नहीं क्या करते है; लोग घास छीलते-छीलते कपड़े सीने लगते हैं।'

वे फिर जांघिए को निहारने लगे थे।

'इसी समस्या के मारे मैं धोती बांधता हूं। फिटिंग की तो समस्या नहीं है न।'

'हाँ, दर्जियों की हालत से तो आप बच जाते हैं, पर सच पूछा जाए तो धोती कोई ड्रेस नहीं है। उसमें आदमी नंगा होता रहता है।'

'हाँ साहब! जांघिए की और ही शान है। और वह भी अमरीकन जांघिया।' मैंने हथियार डाल दिए।

वे ऐसी मुग्ध दृष्टि से जांघिए को पी रहे थे, जैसे कोई नया प्रेमी अपनी प्रेमिका के रूप को पीता है।

'ऐसा शेड आपको भारत में नहीं मिलेगा।' मैंने फिर चर्चा आरंभ की।

'मैंने एक-एक दुकान छान मारी है।' वे तुरंत मुझसे सहमत हो गए, 'ऐसा रंग तो दूर, इसके आसपास का भी कोई रंग नहीं मिला। खास अमरीकन फार्मूले पर बना हुआ है। अपने देसी रंग तो इसके पासंग भी नहीं है।'

'इसकी चमक लाजवाब है।'

'अजी दो पतलूनों में भी इसकी चमक नहीं छिपती। नीचे पहनकर दफ्तर जाता हूँ तो पतलून के भीतर से अपना रंग दिखाता है। बिना बताए ही सब लोग जान जाते हैं कि इम्पोर्टेड है।'

'पता नहीं हिंदुस्तानी लोग कपड़े में ऐसी चमक क्यों नहीं ला सकते।' मैंने आह भरकर कहा।

'अजी, ऐसी चमक लाने के लिए बड़ी डेवलप्ड इंडस्ट्री होनी चाहिए। अपना देश अभी बहुत पिछड़ा हुआ है।' सहसा उन्होंने आवाज दबाकर भेद-भरे स्वर में कहा, 'बिना ईमानदारी और कठिन परिश्रम के इंडस्ट्री आगे नहीं बढ़ सकती और अपने यहाँ ईमानदारी तो ईमानदारी, कैरेक्टर ही सिरे से गायब है। आपसे क्या छिपाना... आप अपने ही आदमी हैं। मेरे सैक्शन में छः अमरीकन हैं और हम दो हिंदुस्तानी। पर ऊपरी आमदनी केवल हम दोनों की ही है. . .।'

मैंने बड़ी करुण दृष्टि से उसे देखा, वह आदमी अपने अमरीकन जांघिए की प्रशंसा में अपने-आपको नंगा करता जा रहा था।

'आप इस जांघिए को पहनकर सोते भी हैं, या केवल गली में खड़े होते समय ही इसे पहनते हैं?' मैंने पूछ लिया।

'कभी-कभी पहनकर सो भी जाता हूं।' वे आश्वस्त होकर मुस्कराए, 'सोने में एकदम तकलीफदेह नहीं है।'

'पर ऐसी शानदार चीज पहनकर सोने से क्या लाभ?' मैंने टोका, 'जल्दी घिस जाएगा। इसे तो आपको केवल विशेष अवसरों के लिए संभालकर रखना चाहिए। ऐसे जांघिए कौन-से रोज मिल जाते हैं।

'आप कहते तो ठीक हैं कोहली साहब!' वे मुझसे सहमत हो गए, 'पर इम्पोर्टेड चीज लेने का लाभ तो तभी है, जब उसका पूरा उपयोग किया जाए। मैं उन लोगों में से नहीं हूँ, जो इम्पोर्टेड कपड़े वार्डरोब में टांग कर अपनी शान बढ़ाते हैं। मैं तो उनसे कसकर काम लेने के पक्ष में हूँ..।

'फिर भी, पहनकर सोने. . .।' मेरा स्वर काफी पीड़ित था।

'बात यह है भाई जान।' वे बोले, 'कि वह जांघिया मल्टीपर्पज है। इसे नाइट सूट के समान भी पहना जा सकता है, यह ईवनिंग सूट का काम भी देता है, इसे आप सूट के नीचे पहनकर दफ्तर भी जा सकते हैं। यानी जहाँ जैसे जो सूट करे।'

'तो यह अमरीकन पालिसी के अनुसार ही बनाया गया है।'

'बिल्कुल! बिल्कुल!!'

'पर इसे पहनकर सोने से आपको मच्छर नहीं काटते?'

वे बड़प्पन से मुस्कराए, 'अब देखिए, फारेन ड्रेस पहनने से अपने देश की क्लाइमेट में कुछ न कुछ तकलीफ तो उठानी ही पड़ती है। मच्छर तो काटते ही हैं।'

'हाँ जी! ये एशियाई कीड़े-मकोड़े अमरीकनों का एकदम लिहाज नहीं करते। अब देखिए, वियतनामियों ने अमरीका की क्या गत बना रखी है. . .।'

'वह तो पालिटिक्स की बात है।' वे बोले।

अर्थात् वह उनके जांघिए की बात नहीं है। अत: उसमें रुचि नहीं थी।

'भाभी के लिए आपने कोई अमरीकन ड्रेस नहीं खरीदा? आखिर उन्हें भी तो गर्मी लगती होगी।' मैंने पूछा।

'हैं-हैं!' वे हंस पड़े, 'वे भी मुझसे इसी बात को लेकर नाराज हैं। पर कैसे खरीदता। मिस्टर किथकिन तो कुंवारे ही हैं। वैसे मैं सोच रहा हूँ, किसी को लिखकर सीधे वहीं से मंगवा लूँ।'

'जरूर-जरूर।' मैंने सलाह दी, 'सीधे अमरीकन प्रेजिडेंट को ही लिखिए। वे तो कब से इस कोशिश में हैं कि सारे देश उनके जांघिए पहनने के लिए नंगे हो जाएँ।'

'आपकी बड़ी आर्थोडाक्स थिंकिंग है। इसे आप नंगा होना कहते हैं।' वे मेरी नादानी पर हँस दिए।

'नहीं, नंगा तो मैं हूँ। आँखें उठाकर पूरी तरह आपकी ओर देख भी नहीं सकता।'

उन्होंने मेरी बात का एकदम बुरा नहीं माना। परोपकार की भावना से प्रेरित होकर तुरंत बोले, 'आपको पसंद हो तो आपके लिए भी कोई जुगाड़ लगाऊँ। कुछ जांघिए रफू होने के लिए दर्जी के पास गए हुए थे। तब नहीं बिके थे, अब बिकेंगे।'

'भगवान ऐसी मुसीबत की घड़ी न लाए। इतनी गर्मी का लगना राष्ट्रीय हित में नहीं है।'

'आप तो बात को फिर पोलिटिकल लेवल पर ले गए।' वे बोले, 'मैं तो दोस्ताना बात कह रहा था।'

'आपकी दोस्ती के पॉलिटिक्स को भी लोग समझने लगे हैं।'

वे पहली बार पूरी तरह उदास हो गए। उनके चेहरे पर निक्सन की निराशा और क्षोभ था। यह काला देश उनकी सहायता के प्रस्ताव को ठुकरा रहा था।

# *मनोविश्लेषणात्मक आलोचना दृष्टि और देवराज उपाध्याय*

● डॉ० विवेकानन्द पाठक

**डॉ० देवराज उपाध्याय ने उपन्यास में भी मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में गहरी रुचि ली है। उनका मानना है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में आत्मनिष्ठता अधिक होती है। घटनाओं की संख्या घटती चली जाती है। कथात्मकता का ह्रास होता जाता है। उपन्यासकार बाह्य जगत की अपेक्षा अंतर्जगत को उद्घाटित करता चलता है।**

साहित्य का आकाश उन्मुक्त होता है और धरातल विस्तृत। वह हर रचनाकार को किसी भी वस्तु और उसके प्रतिमान को नियत करने के लिए स्वतंत्र छोड़ देता है। यही कारण है कि तुलसी, कबीर, बिहारी और घनानंद जैसे कवियों ने साहित्य रचना तो की, किन्तु उनकी मान्यताएँ अलग-अलग होने की वजह से साहित्य में उनका विनियोग विभिन्न रूपों में होता रहा।

अस्तु, उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में देवराज उपाध्याय की साहित्य संबंधी मान्यताओं की खोज अपने आपमें विशिष्ट एवं प्रासंगिक हो जाती है। डॉ० देवराज उपाध्याय मूलत: मनोविश्लेषणात्मक आलोचक थे। जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी जिस रचनादृष्टि से सर्जना कर रहे थे, उसी दृष्टि से देवराजजी आलोचना कर रहे थे। एक तरह से कहा जाय तो इस आलोचना पद्धति के सूत्रधार भी यही थे। यद्यपि आचार्य रामचंद्र शुक्ल, जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी आदि ने मनोवैज्ञानिक निबंध लेखन किया जरूर, किन्तु आलोचना पद्धति के रूप में मनोविश्लेषण देवराजजी के ही साहित्य में आता है। देवराज उपाध्याय के रूप में एक ऐसी प्रतिभा हिन्दी आलोचना को मिली जिन्होंने कृतियों के अंतस्तल में झाँकने की नई तकनीक दी। रचना में मनोविज्ञान का प्रयोग तो होता रहा, किन्तु आलोचना की मुख्यधारा में मनोविश्लेषण को शामिल करने का श्रेय डॉ० देवराज उपाध्याय को जाता है।

उपाध्याय जी गंभीर तर्ज़अदा के साथ आलोचना के क्षेत्र में उतरे थे। उनका मानना था

कि साहित्य व्यक्तिस्वातंत्र्य की अभिव्यक्ति का माध्यम है। सामाजिकता के बिना साहित्य की अभिव्यक्ति हो सकती है, किन्तु व्यक्ति के बिना नहीं–

"जब-जब मनुष्य के अन्दर अभिव्यक्ति की प्रेरणा होती है तब-तब सबके ऊपर अपनी ही सत्ता का उद्घोष करता है।"

यहीं पर उपाध्यायजी की मनोविश्लेषणात्मक आलोचना समाजवादी आलोचना से इतर होती है। समाजवादी आलोचना का मानना है कि साहित्य समाज की अभिव्यक्ति है; किन्तु देवराजजी का मानना है कि साहित्य अंतिम रूप से व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है, सामाजिकता उसमें शामिल हो जा सकती है। वह भी व्यक्तित्व रूपी 'प्यूरीफिकेशन' मशीन से 'प्यूरीफाइ' होकर ही निःसृत होती है। उनका मानना है कि कला में किसी वैचारिकता का दबाव पड़ते ही वह रिरियाने लगती है। उस बेल्ट बँधा कुत्ते के जैसा जो न चाहते हुए भी मालिक के साथ खींचाता चला जाता है। विशुद्ध कला ठीक वैसी ही है जैसे गाँव के किसी छोरे के पीछे नन्हा-सा पिल्ला चौकड़ी भरता निकला जा रहा हो। तुलसी ने स्वांतः सुखाय 'रामचरित मानस' की रचना की। निराला ने आंतरिक बेचैनी को शांत करने के लिए 'सरोज स्मृति' की सर्जना की। अस्तु वे साहित्य में वैचारिकता का दबाव नापसंद करते थे।

साहित्य के स्वरूप के बाद उपाध्यायजी कविता पर विचार करते हैं। कविता के मूलतः दो आधार होते हैं। अनुभूति और अभिव्यक्ति यानी भाव और भाषा। पाश्चात्य काव्यशास्त्र से लेकर भारतीय काव्यशास्त्र सभी जगह भाव और भाषा को लेकर काफी कुछ कहा गया है। डॉ० देवराज उपाध्याय कविता में भावगत नूतनता से अधिक वरीयता भाषागत नूतनता को देते हैं। जिसमें परस्पर विरोधाभाष का मैत्रीपन विद्यमान हो–

"मतलब यह कि कविता का काम इतना ही भर नहीं है कि वह प्रासंगिक रीति से कवि की भावमयी अनुभूति की अभिव्यक्ति कर दे, बल्कि आगे बढ़कर उसे यह भी व्यवस्था करनी चाहिए कि उसकी काव्योक्ति में मूल अनुभूतियों की विरोधी बातों का सन्निवेश हो पर भाषा के सूत्र में आबद्ध होकर मैत्री-भावापन्न हो जाय।"[2] अपनी बात प्रमाणित करने के लिए उपाध्यायजी हिन्दी साहित्य के दो कवियों को हमारे सामने रखते हैं- 'नवीन' और धर्मवीर भारती। इन दोनों में धर्मवीर भारती को वे ज्यादा क्रांतिकारी मानते हैं, क्योंकि उनकी कविता 'टूटा हुआ पहिया' में 'नवीन' की तरह 'क्रांति की तान' न होकर भी भाषागत नूतन भाव भंगिमा मौजूद है। वे मैथिलीशरण गुप्त में भी क्रांतिकारिता नहीं देखते क्योंकि भाषागत नूतनता वहाँ नहीं है। भाषा की नवीनता का आग्रह तो अज्ञेय के यहाँ भी पाया ही जाता है–

"नए कवि की उपलब्धि और देन की कसौटी इसी आधार पर होनी चाहिए। जिन्होंने शब्द को नया कुछ भी नहीं दिया है, वे लीक पीटनेवाले से अधिक कुछ भी नहीं हैं।"[3]

कविता के बाद उपाध्यायजी ने उपन्यास पर भी विचार किया है। उनके विचार से पौराणिक युग में महाकाव्यों से जो छूट जाता था आधुनिक युग में उपन्यास उसे लेकर आगे आनेवाली विधा है। इस रूप में उपन्यास महाकाव्य से आगे की विधा है। आम-तौर पर उपन्यास का उद्‌भव आलोचकों के द्वारा 18वीं सदी के आस-पास माना जाता है, किन्तु देवराज उपाध्याय उपन्यास के उद्‌भव को 10वीं-11वीं शताब्दी तक खींच कर ले जाते हैं। वे एक जापानी रचना The Tale of Gonji (टेल ऑफ गेंजी) है। इसे एक लेडी एम० मारासाकी ने लिखा है।

"यह रचना उपन्यास की सारी परिभाषा को पूर्ण रूप से संतुष्ट करती है। इसमें ऐसी किसी बात का उल्लेख नहीं है, जो दैनिक जीवन के साधारण अनुभवों के प्रतिकूल हो।"[4]

डॉ० देवराज उपाध्याय ने उपन्यास में भी मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में गहरी रुचि ली है। उनका मानना है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में आत्मनिष्ठता अधिक होती है। घटनाओं की संख्या घटती चली जाती है। कथात्मकता का ह्रास होता जाता है। उपन्यासकार बाह्य जगत की अपेक्षा अंतर्जगत को उद्‌घाटित करता चलता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों में इनके प्रिय कथाकार जैनेद्र और अज्ञेय हैं। यद्यपि इन्होंने प्रेमचंद, इलाचंद्र जोशी, रांगेय राघव, रेणु, यशपाल आदि के उपन्यासों पर भी विचार व्यक्त किया है। उपाध्यायजी ने जैनेन्द्र के उपन्यासों में फ्रायडीयन मनोविज्ञान का समावेश तो माना है किन्तु वे जैनेन्द्र को गेस्टाल्ट मनोविज्ञान के ज्यादा करीब मानते हैं। गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान की यह मान्यता है कि संसार की प्रत्येक वस्तु अपने आप में सम्पूर्णता लिए होती है, जबकि अज्ञेय के उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' में देवराज उपाध्याय ने बाल मनोविज्ञान का विराट समाहार के रूप में देखा है–

"अज्ञेय का 'शेखर: एक जीवनी' हिन्दी का प्रथम उपन्यास है जिसमें शिशु मानस के सपनों को, फ्रायड के शब्दों में (Pleasure Principle) आनंद प्रधान जीवन की झाँकियों को, उसके कौतुहल और जिज्ञासाओं को तथा उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर समाज तथा माता-पिता के व्यवहार अथवा यों कहिए कि Reality Principle के सम्पर्क से उत्पन्न दमन की ग्रंथियों को तथा उसके जीवनव्यापी प्रभाव को कथा क्षेत्र में लाने का प्रयत्न किया।"[5]

आज भले ही शेखर के बारे में उपाध्यायजी की अवधारणा में नयापन नहीं लगे किन्तु जब 1956 ई० में उन्होंने इन तथ्यों का उद्‌घाटन किया था, जो मनोविज्ञान संबंधी

इनके गहन ज्ञान का ही परिचायक है।

कथा साहित्य की चर्चा के क्रम में उपाध्याय जी प्रेमचंद की कहानी 'मनोवृत्ति' को सच्चे अर्थों में प्रेमचंद की प्रथम मनोवैज्ञानिक कहानी मानते हैं, जिसमें एक घटना का प्रभाव लोगों पर किस रूप में पड़ता है और उन सबकी मनोवृत्ति उद्घाटित होती चली जाती है। उपाध्यायजी ने 'मनोवृत्ति' कहानी को अमेरिकन और अंग्रेजी के मनोवैज्ञानिक कहानियों से टक्कर लेने वाला बताया है। जबकि प्रेमचंद का उद्देश्य यहाँ मनोविज्ञान न होकर कथा का विकास था। प्रेमचंद को देवराजजी कथा के शरीर से चिपके रहनेवाले विद्रूप तत्त्व को हटाने एवं उसको निखारने के लिए प्रथम 'ब्युटी एक्सपर्ट' मानते हैं। विद्रूप तत्त्व से तात्पर्य जासूसी, ऐयारी और चमत्कारी क्रियाकलापों से है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों में इलाचंद्र जोशी देवराजजी के प्रिय कथाकार रहे हैं। उनके कई उपन्यास मसलन–'प्रेत और छाया', 'निर्वासित', 'मुक्तिपथ' इत्यादि उपन्यासों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है।

सभी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों में उपाध्यायजी ने विशुद्ध मनोवैज्ञानिक कलाकार के लक्षण सिर्फ अज्ञेय में देखे हैं। जैनेन्द्र में दार्शनिकता का पुट है तो जोशीजी की शैली पुरानी है। अज्ञेय की कहानियों का इतिहास कथाभाग के निरंतर ह्रास का इतिहास है। कथात्मकता का ह्रास मनोवैज्ञानिकता की सबल पहचान है।

इसके अलावा उपाध्यायजी की लेखिनी अपने समय के तमाम कथाकारों मसलन–रेणु, नागार्जुन, हजारी प्रसाद द्विवेदी, अमृतलाल नागर, राहुल सांकृत्यायन, नलिन विलोचन शर्मा, धर्मवीर भारती, यशपाल जैसे लेखकों पर चली है।

आरंभ में डॉ० देवराज उपाध्याय की मनोविश्लेषणात्मक आलोचना को कुछ आलोचकों ने 'दिमागी कसरत' कहकर उपहास किया, किन्तु अब समय आ गया है जब मनोविश्लेषणवाद दिमागी कसरत न होकर पाठकीय अभिरुचि और आलोचकीय रचनाधर्मिता की जरूरत बनकर उभरे अतिमहत्वाकांक्षी होता मानव की नित नवीन ऊँचाई को छूने की तमन्ना की विफलता एवं उससे होने वाले तनाव का मूल्यांकन कौन करेगा? समाजशास्त्रीय आलोचना रचना का मूल्यांकन सामाजिक आधार पर करती है। ऐसे में स्वानुभूतिपरक और आत्मकथात्मक दलित-साहित्य और स्त्री-विमर्श का मूल्यांकन मात्र सामाजिक आधार पर करना अधूरा और एकांगी है। शोषित होती उनकी मनोवृत्तियों का सम्पूर्ण मूल्यांकन मनोविश्लेषणात्मक आलोचना ही कर सकती है। आज एक तरफ बेरोजगारों की फौज, दूसरी तरफ अमीर होते अमीरों की बढ़ती संख्या और उनके रहन-सहन का बेरोजगारों की

मनोवृत्तियों पर पड़ते प्रभाव का मूल्यांकन मात्र समाजवादी आलोचना के वश की बात नहीं है, बल्कि मनोविश्लेषणात्मक आलोचना के सहयोग के बग़ैर सम्पूर्ण मूल्यांकन नहीं हो सकता। ऐसे में मनोविश्लेषणात्मक आलोचना समाजवादी आलोचना के मार्ग की बाधा न होकर सहयोगी की ही भूमिका निभा सकती है।

अत: आवश्यकता है डॉ० देवराज उपाध्याय जैसे आलोचकों और उनके मूल्यों को पुनर्जीवित करने की।

## संदर्भ सूची


1. साहित्य और साहित्यकार, डॉ० देवराज उपाध्याय, पृ०-16
2. साहित्य का मनोवैज्ञानिक, डॉ० देवराज उपाध्याय, पृ०-36
3. तीसरा तारसप्तक, पृ०-14
4. मनोवृत्तानुवर्ती आख्यान रचना, डॉ० देवराज उपाध्याय, पृ०-18
5. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान, डॉ० देवराज उपाध्याय, पृ०-162

डॉ० विवेकानन्द पाठक, वरीय शोधप्रज्ञ, पटना विश्वविद्यालय, पटना


**सदस्यता फार्म**

नाम .....

पता .....

.....

.....

फोन ..... मोबाइल ..... ई-मेल .....

एक वर्ष: 240/- रुपये

तीन वर्ष: 720/- रुपये

दिनांक: .....

हस्ताक्षर: .....

शुल्क '**SAHITYA YARTA**' के नाम पर इस पते पर भेजें-

'अभ्युदय'

ई-112, श्रीकृष्णपुरी, पटना-800001

बिहार

# *एक तिनके की चीख –सी उभरती मलयज की कविता*

● **अरबिन्द कुमार**

**मलयज का दूसरा दौर प्रारंभ होता है तब जब ये इलाहाबाद से दिल्ली चले आते हैं। यहाँ इनका प्रखर सर्जनात्मक साहित्यिक व्यक्तित्व का एक निखरा स्वरूप देखने को मिलता है। वास्तव में मलयज स्वयं निम्नमध्यवर्गीय परिवार से आते थे और समय के साथ निम्नमध्यवर्ग के अंदर विसंगतियाँ और अंतर्विरोध बढ़ते ही जा रहे थे।**

"लिखो तभी जब संकट में हो,
चीजें जब सब हिली हुई हों,
जमीन सरकी हुई थिर कुछ भी नहीं,
एक साँस भीतर एक बाहर बीच में
हलचल जिसमें कोई तरतीब नहीं,
बक्से उलट दिए गए चीज बस्ता बाहर
एक खुलापन जिसको सब घूर सकें।
एक नंगापन जिसमें देख सकें सब
अपने दु:खी क्रुद्ध विकृत चेहरे ..
(मलयज की डायरी, भाग-3 पृ॰सं॰ 306)

अपनी मृत्यु के 17 दिन पहले 9 अप्रैल 1982 ई॰ को उन्होंने आखिरी बार अपनी डायरी में कुछ लिखा था और यह एक कविता थी। इस कविता की पंक्तियों से मलयज के अन्दर की वैचारिक तीक्ष्णता, जख्मी होती हुई मानवीय संवेदनाओं को लेकर एक संवेदनात्मक छटपटाहट एवं सर्जनात्मक तनाव को देखा जा सकता है। तभी तो उनकी कविता में मौलिकता, सजीवता, गतिमयता एवं जीवन की अनुभूतियों का दर्शन सहज ही हो जाता है। वास्तव में कवि के रूप में मलयज का मिजाज कुछ ऐसा ही है। इसी कविता की आगे की पंक्ति है:-

''संकट में होना धार में होना है
किनारा है उथलापन
जहाँ मिलेगी तुम्हें अकेली सूखी चमक''
(मलयज की डायरी, भाग-3 पृ॰सं॰ 306)

यहाँ निराला की कविता 'अधिवास' का सहसा ध्यान हो आता है:-

''मेरा अन्तर वज्र कठोर
देना जी भरकर झकझोर
मेरे दु:ख का गहन अंधकार

क्या होना इतनी उज्ज्वलता
क्या वन्दन अभिनन्दन
जीवन चिर-कालिक क्रन्दन!''

कुछ ऐसे ही मलयज भी जीवन के अन्तिम क्षण तक संघर्ष के समुद्र में गोते लगाते रहे और अंदर गहराइयों तक जाकर जीवन के तमाम अनुभवों को खंगालते हुए अपने समृद्ध काव्यबोध को विस्तार देते रहे। उन्होंने अपने आपको संकट से उबरने का रास्ता चुनने के विपरीत संघर्ष, संघर्ष और संघर्ष के मझधार में डुबोए रखना बेहतर समझा, निराला एवं मुक्तिबोध की तरह।

मलयज के कवि व्यक्तित्व के अन्दर का यह आत्मसंघर्ष अनायास ही नहीं था। मलयज के स्वयं का पारिवारिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि, मध्यवर्ग के अन्दर ही निम्न मध्यवर्ग एवं उच्च मध्यवर्ग के भावबोध एवं यथार्थबोध की टकराहट के फलस्वरूप उठने वाला तनाव एवं सांस्कृतिक दुरूहता उनके अन्तर्जगत की पृष्ठभूमि को तैयार करने में लगा था। मलयज के यहाँ रचना कर्म कोई तराशने की कला नहीं है, बल्कि एक सर्जनात्मक बोध है जो जीवन की तमाम अनुभूतियों को अपने अन्दर खींच लेना चाहता है। उनके लिए काव्यबोध, जीवनबोध से अलग नहीं है तभी तो इन दोनों के बीच की फाँक पर चिन्ता व्यक्त करते हुए उन्होंने अपनी डायरी में लिखा था ''मुझे लगता है कि आज जीवनबोध और काव्यबोध दो अलग-अलग हस्तियाँ हो गए हैं। दोनों का यह अंतर काफी बढ़ता जा रहा है। कविता का शब्द लिखने के पहले ही आँच से कलम की स्याही सूख जाती है। कविता बनने से पहले ही सामने अखबार आ जाता है। निजी से निजी अनुभूति प्लेटफार्म बन जाती है, जहाँ कंधे छिलती हुई भीड़ होती है। किसी प्रिय के मरने के दु:ख से अधिक काव्यात्मक एक साबुन का घिस जाना हो गया है जो देश के एक बड़े भाग के मन को छू सकता है।''

(मलयज की डायरी, भाग-3 पृ॰सं॰ 456)

मलयज का साहित्यिक विवेक एक अलग तरह के रंगत को लिए हुए था, जिसका जन्म तो इलाहाबाद की जमीन पर नयी कविता के साहित्यिक पुरोधाओं के मध्य हुआ था, लेकिन भावबोध में अपनी तटस्थता को बनाए रखते हुए। मलयज के प्रारंभिक काव्य व्यक्तित्व के निर्माण में उनके मामा राम वर्मा जी, दोस्त शिवकुटी, बहन प्रेमलता एवं शमशेर बहादुर सिंह का भी कमोवेश योगदान रहा। मलयज के द्वारा लिखित इस दौर की सैकड़ों कविताएँ उनके निधन के बाद उनकी डायरी में बिखरी पड़ी हैं, जिन्हें उन्होंने औपचारिक रूप से किसी कविता संग्रह में शामिल नहीं किया है।

मलयज का दूसरा दौर प्रारंभ होता है तब जब ये इलाहाबाद से दिल्ली चले आते हैं। यहाँ इनका प्रखर सर्जनात्मक साहित्यिक व्यक्तित्व का एक निखरा स्वरूप देखने को मिलता है। वास्तव में मलयज स्वयं निम्नमध्यवर्गीय परिवार से आते थे और समय के साथ निम्नमध्यवर्ग के अंदर विसंगतियाँ और अंतर्विरोध बढ़ते ही जा रहे थे। समाज के अंदर का यह तनाव उस समय की राजनीतिक स्थिति पर भी उतना ही प्रभाव डाल रहा था। यही कारण था कि उस समय की राजनीतिक सामाजिक सच्चाइयों की क्रूरता अपने नंगे रूप में प्रकट हो रही थी। मलयज इन सब से अछूते नहीं थे। कवि का भी इस परिवेश के साथ एक तनावपूर्ण संबंध दिखता है। कवि बाहर के इस वस्तुजगत के अंतर्विरोधों और प्रतिकूलताओं को अपनी भीतरी दुनिया में खींच लेना चाहता है। दूसरी तरफ भीतर का संसार भी बनने की ही प्रक्रिया में था, इस कारण से बाहर का यह वस्तुजगत संसार ठोस ब्यौरों का रूप नहीं ले पाता है, बल्कि कवि के मनोजगत संसार में मूर्त्त और अमूर्त्त के संयोग के एक जटिल संसार को रचता है। तभी तो प्रारंभ में मलयज की अनुभूति के केन्द्र में विद्रूप और व्यंग्य की नाटकीयता दिखायी पड़ती है और सारी बातें बिम्बों के माध्यम से व्यक्त होती है। मलयज के प्रथम कविता संग्रह ''जख्म पर धूल'' की पहली ही कविता ''हँसते हुए मेरा अकेलापन'' में इस नाटकीय संयोग को देखा जा सकता है-

''एक तनाव मूर्ति
जीवन की बहुमूल्य व्यर्थताओं से
ओढ़ायी हुई एक ठेलमठेल गलियारे में
जहाँ उसकी उँगलियों पर बढ़ते हुए नाखूनों की
चमक थीं, एक खरोंच धीमी लपट की लकीरों से
उस चमक को सहलाती हुई, खाती हुई एक भूख
हरी पत्तियों के दरिन्दे अन्तरालों को चबाती हुई
एक आकृति जिसके आँख, कान, मुँख, हाथ, पैर कुछ न था
दिशासूचक तख्तियों पर चुप्पी पुती थी
वहीं जीभ से अलग कटी पड़ी हुई भाषा
जहाँ हकला-हकला कर चीजों से चीजों को जोड़ रही थी
मैंने उसे पाया खिलखिलाकर हँसते हुए मेरा अकेलापन।''

इस कविता में कवि अपने अमूर्त्त विद्रोही तेवर को एक तनावमूर्ति के रूप में मूर्त्त करना चाहता है लेकिन लम्बे अन्तरालों में वह मूर्त्त रूप आने के पहले ही खत्म

हो जाता है और उसके इस विद्रोही तेवर को खत्म करनेवाला और कोई नहीं, बल्कि उसका अकेलापन है। तभी तो उसकी भाषा जीभ से अलग कटी पड़ी हुई है और वह चीजों को हकला-हकला कर जोड़ पाता है। कवि इसी तरह के नाटकीय संयोग से कविता में बनाता है, साथ ही स्वयं पर इसके लिए व्यंग्य भी करता है। यहाँ ''खिलखिलाकर हँसता हुआ मेरा अकेलापन'' काव्य में व्यंग्य है।

इसी संग्रह की दूसरी कविता 'पुस्तक समीक्षा' में कवि रचनाकार को स्रष्टा के साथ खड़ा कर देता है। कवि का मानना है कि रचना और जीवन-जगत के मध्य एक गहरा संबंध है। इसी कारण कवि कविता के अन्त में सहजता से कह डालता है कि जब तक जीवन-जगत का सत्य मौजूद है तब तक कविता का भी अस्तित्व बना रहेगा। इस कविता की पंक्तियाँ कुछ इस प्रकार है:-

'जिन्दगी बहुत सी सुबहों की
सिली हुई एक जिल्द, 'एक कविता-संकलन, उपन्यास या नाटक'

इसी कविता के अन्त में लिखते हैं :-

''एक अन-बनी चिड़ियाँ यह मर्क-कथा कहेगी
जब तक कि खेतों में एक भी फली जिन्दा है।''

इसी संग्रह की 'अहं-पीड़ित एकान्त का वक्तव्य' एवं 'कन्या' शीर्षक कविता में कवि के अन्दर उठने वाले सर्जनात्मक तनाव को समझा जा सकता है। कवि का यह सर्जनात्मक तनाव वास्तव में अपनी अनुभूति को रंग देने को लेकर है। तभी तो जहाँ एक तरफ लिखते हैं:-

''हाँ महज एक फालतू बहाव हूँ मैं
तुम्हारे लवारिस क्षणों की नदी के सैलाब का
अर्थच्युत अक्षर हूँ एक
प्रलंबित कुंठा की बीजगणित के हिसाब का।''

वहीं दूसरी तरफ इसी कविता में लिखते हैं :-

'फूटते छाले का विष हूँ
भावुकता के पिचपिचे उन्मेष में
जिसे तुम कहते हो कला .....''

इसी तरह 'कन्या' शीर्षक कविता में अपने अंदर जन्म लेने वाली यथार्थपरक अनुभूति को कई-कई बिम्बों से प्रतिबिंबित कर डालते हैं। कभी उसे 'मेरी नन्हीं सोन चिरैया' तो कभी 'एक छोटी साँवली मछली', तो कभी 'मुलायम अँधेरे के जूड़े में

खुँसा हुआ एक बरसाती फूल' तो कभी 'अमोले की फाँक पर मंडराती हुई एक पीली मधुमक्खी'। लेकिन कवि को तभी महसूस होता है कि उसके नन्हीं सोन चिरैया की कूकती हँसी के गढ़ पर अमरबेल की एक बारीक कमंद फेंक चढ़ आया है और तब कवि सावधान हो जाता है क्योंकि वह कला रूपी इस अमरबेल को अपनी इस नन्हीं सोन चिरैया रूपी यथार्थ परक अनुभूति पर हावी नहीं होने देना चाहता है। तभी तो वह आगे लिखता है:-

''क्योंकि जानता हूँ तेरे बिना भी, अमरबेल की बारीक कमंदफेंक
जो चढ़ आया है तेरे गढ़ पर
और पोंछ देगा खुरदरे हाथों रात से
उड़ने को विकल नरम पंख-छाया
वह यथार्थ का मरण होगा ...एक संवेदना
जिसे तू झेलती है प्रतिपल
उस चरम परिणति तक, धीर, एकटक।''

कवि की वैयक्तिक स्थिति का यह बोध, यह छटपटाहट, यह तनाव, उनके इस संग्रह की अधिकांश कविताओं में देखा जा सकता है। कवि ने इसके लिए प्रकृति के विभिन्न उपादानों का सहारा लिया है जैसे:- 'आकाश', 'अमरबेल', 'तारा', 'सूर्यास्त', 'शाम', 'सुबह', 'क्षितिज', 'जल', पेड़', 'मैदान', 'चिड़ियाँ', 'चाँद', आदि-आदि। इससे पता चलता है कि कवि का प्रकृति से गहरा लगाव एवं संलग्नता है।

विजय कुमार ने अपने लेख में लिखा है कि मलयज की इन कविताओं में अकेलेपन के अलग-अलग शेड्स हैं। इनमें एक बेचैनी से भरी प्रश्नाकुलता और दबे हुए विद्रोह की ध्वनि है। मन के भीतरी अँधेरे कोने में दमित इच्छाएँ प्रतीकों के रूप में व्यक्त होती हैं। नई कविता ने साधारण मनुष्य की दिनचर्या के सच की खोज की थी। दिनचर्या के ये डिटेल्स सीधे और प्रत्यक्ष ब्यौरों से नहीं बनते थे। इनमें मन का भीतरी संसार लिपटा रहता था। उखड़े-उखड़े दिशाहीन समय में कवि का अपना भीतरी मन ही बाहर संसार में प्रकट होता था। प्रकृति और दिनचर्या का यह मिलन जटिल मन:स्थिति बनकर मलयज की कविता में प्रकट हुआ है।''

''शाम के कर्ज में डूबा पिता का चेहरा
आकाश के पेड़ की तरह तन गया।''

वास्तव में मलयज इस संग्रह में खुद से संघर्ष करते हुए दिखते हैं। उनका यह आत्मसंघर्ष काव्य अनुभूति, काव्यकला एवं शब्द चयन को लेकर है। लेकिन

दूसरी तरफ उनके अंदर का सहजबोध, मौलिकता एवं तटस्थता उन्हें सतत् आगे की ओर ले जाने को तत्पर है। उनके इसी संग्रह की एक कविता 'आधी कविता' को देखा जा सकता है:-

''हर रोज
'उधेड़बुन' छाप डोरे के गोले से
सभ्यता का पायजामा सिलते हुए
कामना करता हूँ
कि नंगा दिखूँ
'स्थिति' बनने के बजाय 'मन:स्थिति' हो जाने में
कम से कम 'स्थिति प्रज्ञ' लिखूँ
धारा-प्रवाह।''

इस तरह प्रथम संग्रह की कविता 'हँसते हुए मेरा अकेलापन' से प्रारंभ होकर 'नंगापन खो कर' पर खत्म हो जाता है। प्रथम संग्रह के अन्त-अन्त तक कवि अकेलेपन की त्रासदी एवं अपने तमाम तरह के द्वन्द्वों से बाहर निकल आता है। यहाँ तक कि जिस तटस्थता को ढाल बनाए हुए था, उससे भी बाहर निकल आता है।

मलयज का दूसरा कविता संग्रह 'अपने होने को अप्रकाशित करता हुआ' अपने नाम से ही इस ओर इशारा करता है कि मलयज अपने भावबोध को सीधे तौर पर व्यक्त करने के बजाय नाटकीयता का सहारा लेते हैं। इतना ही नहीं, प्रथम संग्रह की कविताओं से लेकर दूसरे संग्रह तक की कविताओं के शीर्षक को देखकर इस बात का अन्दाजा सहज ही लगाया जा सकता है और बहुत हद तक कविताओं पर भी इसका प्रभाव देखा जा सकता है। इस संग्रह का प्रारंभ 'कवि' शीर्षक कविता से होता है और अन्त 'अपने होने को अप्रकाशित करता हुआ' शीर्षक से। कवि अपने समय के रचना कर्म के प्रति कितना सजग है, यह तथ्य उनके इस संग्रह की प्रथम कविता 'कवि' को पढ़कर जाना जा सकता है। इस कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:-

''रंग की शोखियों के वे अंदाज वे घुलावटें
कसे हुए अंगों में बजते हुए वे शब्द
कहाँ गए?
वे अलमस्त नाचते हुए घनेरे बादलों की
सर सब्ज वादियों में छंद-छंद झरते झरने

वे गुन गुन नदियाँ
वह घास की सादगी में टँका आदिम सौंदर्य,
सौंदर्य की चट्टान फोड़ कर निकलता
यथार्थ का वह क्रूर कठोर पंजा
एक हताश चेहरे के बालों में ठहरा हुआ
मुझे याद है।
किस तरह उँगलियों के नाखून प्रतीकों को चींथकर
बिम्बों को छेदते, भावों को कुरेदते किस तरह
सीधे मर्म को छलनी छलनी कर देते थे तेरे
मुँह से निकली हुई आह
किस तरह सीने से फूटती खुशी का
काव्यक्षण बन जाती थी।''.....

कभी कविता में छन्द, ताल, संगीत और मांसल सौंदर्य की अभिव्यक्ति का प्रचलन रहा तो कभी शब्द जाल बुनने का तो कभी चमत्कार पूर्ण वैभव दिखाने का प्रचलन रहा। कभी प्रकृति चित्रण एवं शब्दों का सौष्ठव दिखाने का प्रचलन रहा तो कभी प्रयोगशीलता पर ज्यादा ध्यान दिया गया। कभी अकविता का दौर चला तो कभी यथार्थ परकता एवं मौलिकता पर भी बल दिया गया। मलयज इन बदलते हुए कविता के प्रतिमानों की ओर इशारा करते हुए बदलते क्षण को पकड़ पाने में चूक गए कवि को (जिनका अपने बनाए प्रतिमानों के प्रति विशेष आग्रह था) बतला देना चाहते हैं कि समय की धार पर नहीं चलने वाले को एक दिन हाशिए पर आना ही पड़ता है।

इस संग्रह की दूसरी कविता जिसका शीर्षक है 'तिनके की चीख'। इसमें मलयज 'नयी कविता' के अंदर उठने वाली निराशा, कुंठा तथा अन्य समान वर्गीय भावों से उबरने की बात करते हैं, तभी तो मलयज इस कविता में लिखते हैं:-

''अपने से बाहर
उस चमकती चीज को एकटक घूरते हुए
मैंने कहा : घुलावट से बचो
खतरा
टकरा कर टूट जाने में नहीं
उस बहाव में है जो टूटन को टकराहट से
अलग रखता है।''

यहाँ मलयज स्पष्ट रूप से जीवन के सच्चाइयों को सबके सामने रख देते हैं। मलयज के अनुसार जीवन का सच न तो अपनी दायरे को बनाए रखने में है और न ही किसी धार में बहकर खो जाने में है, बल्कि यह अपने दायरे से बाहर निकलकर संघर्ष और टकराहट के मध्य जीने से उदघाटित होता है। मलयज के अन्दर का यह सकारात्मक ऊर्जा ही उन्हें संघर्षों से जूझने का सामर्थ्य लगातार बनाये रखता है।

इसी संग्रह की कविता 'चीख से उतर कर' में तो कवि स्पष्ट रूप से संघर्ष का एलान कर देता है। उसका आत्मसंघर्ष अब जन संघर्ष का रूप लेने को बेचैन है। वास्तव में कवि का यह दौर जटिल सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों का था। तमाम तरह के अंतर्विरोधों एवं असफलताओं के मध्य केवल शब्दों की बहसें थीं। जन प्रतिरोध में हिस्सेदारी नाम मात्र की थी, इसीलिए कवि अपने लेखकीय परिवेश को ही ललकार उठता है। इस कविता में यह देखा जा सकता है:-

''मेरे हाथ में एक कलम है
जिसे मैं अक्सर तानता हूँ
हथगोले की तरह फेंक दूँ उसे बहस के बीच
और धुँआ छँटने पर लड़ाई में कूद पड़ूँ
कोई है जो उस वक्त मेरे घुटने से बहते रक्त की
तरफ इशारा कर न कहे कि
शान्ति रखो, सब यूँ ही चलता रहेगा?
और जब मैं घुटती हुई चीख को शब्दों में
जबर्दस्ती ढकेलते हुए कहूँ, क्या आप मेरा साथ देंगें,
बहस में नहीं, लड़ने में
तो उसकी नजर मेरी जेब पर न हो कर
मेरे चेहरे पर हो?''

इतना ही नहीं मलयज की यह कविता व्यवस्था परिवर्तन की बात तक कर डालती है। तभी तो मलयज लिखते हैं:-

''-कोई है जो मेरे बदहवास निहत्थेपन को सिर्फ मेरा
कुचला हुआ सौंदर्य बोध न कहे
और जब मेरी चुप चीख से उतर कर
हाथ-पाँव की हरकत में बदल जाय
तो उसे पिछड़ेपन की छटपटाहट नहीं, चीजों को
तोड़ने का इरादा समझे!''

इस तरह कवि का यह संघर्ष जनसंघर्ष की ओर बढ़ता जा रहा था। एक तरफ मलयज के अन्दर अपने संघर्ष को दिशा देने की छटपटाहट है तो दूसरी तरफ उससे बाहर निकलकर रचने का तनाव। इन अलग-अलग सूत्रों को संवेदना के स्तर पर एक जगह लाकर उसमें वैचारिकता का पुट देकर कवि एक ठोस धरातल पर अपना कदम आगे की ओर बढ़ाना चाहता है। तभी तो नेमिचन्द्र जैन ने उनके इस संग्रह के बारे में कहा है, ''मलयज का काव्य जगत खूँखार इरादों वाले समाज के क्रूर या बेमुरव्वत परिवेश में लगातार जख्मी होती हुई मानवीय संवेदनाओं का, इससे पैदा होने वाली छटपटाहट तथा दहशत का और उसके खिलाफ एक तिनके की चीख का बेचैन कर देनेवाला नाटकीय संसार है।'' इस संग्रह में एक कविता 'मुर्दनी है वही' इसी भाव को व्यक्त करता है:-

''उनमें जो एक मुर्दनी है वही
क्रूरताएँ जन्म लेती हैं
- बारूद के ऊपर जंग लगी लोहे की टोपी
एक रूँध गलियारे से छूटती है
और दीवार से चिपकी खालें चू पड़ती हैं
बिना दबाव।''

मलयज अपने समकालीन लेखकीय समाज से भी संतुष्ट नहीं थे। तभी तो इसी संग्रह में कविता 'कवि की जात' में लिखते हैं:-

''आसमान में गर्दहा जमाव
टँगे हैं ठूँठों पर अखबार
बिकने को खड़ी है
एक कवि की जात''

वास्तव में मलयज अपने संघर्ष को शब्दों में रच कर मुक्त नहीं होना चाहते थे, बल्कि समय सापेक्ष उस की धार को धारदार बनाते हुए जमीन पर अपनी गतिमयता को बनाए रखना चाहते थे। इसमें कहीं कोई समझौता नहीं। इसके लिए अपने लेखकीय जमात को भी बख्शने के मूड में नहीं थे। तभी अपनी कविता 'हरेपन में बकना' में लिखते हैं:-

''अब अन्तिम बार तुम्हें यह करना होगा
पेड़ और धूप और चिड़िया को
अपने समय में से छानकर सन्नाटे में बुनने के पहले

उन्हें शोर की दुम में नत्थी करना होगा
यह आखिरी मौका है
तुम्हें गोली और तेंदुआ और वर्दी को
सवा लाख मील लम्बे अपने पोस्टर पर टाँगने के पहले
अपने झूठ में घुलाकर उनका अर्क
एक बूँद पत्ती के हरेपन में बकना होगा''

मलयज चूँकि कवि के साथ एक सजग आलोचक भी थे, इसलिए उनकी इन कविताओं पर उनकी वैचारिकता का असर देखा जा सकता है। अनेक कविताओं में कविता की स्थिति और कवि एवं कविता के बदले हुए स्वभाव की चिन्ता भी दिखाई देती है। 'मोहताज' कविता की पंक्तियों को यहाँ देखा जा सकता है:-

''नीचे
एक शरीर में तह किए हुए वे सब खूँख्वार इरादे
वे सब जिनकी डाढ़ों में सींक-सलाई की क्रान्तियाँ
फँसे हुए जूठे टुकड़े निकाल जाया करती है
कागजों से अटी पड़ी जमीन को फिर भी
एक जगह से थोड़ा साफ कर वह महसूस करता है
कुछ बदल रहा है
पर कविता आदमी का झूठ
कितनी जल्दी जाहिर कर देती है कविता
के बाहर का सच
संवेदना का नहीं
पाँवों की मोच का मोहताज है''

मलयज एक औसत व्यक्ति और एक कवि के दोहरे संघर्ष को अपने रोजमर्रा के जीवन में बहुत ठोस जमीन पर खड़े होकर झेल रहे थे। उनके व्यक्ति और उनके कवि के बीच कोई फाँक नहीं थी। उनका घर परिवार, गली, पड़ोस, आजीविका, मित्र, संबंध और उनकी साहित्यिक चिन्ताएँ एक-दूसरे में घुल-मिलकर इन कविताओं में व्यक्त हुई है। मूर्त संसार और अमूर्त भावदशाओं का विचित्र मेल इन कविताओं में है।

इस संग्रह की अन्तिम कविता (जिसका शीर्षक है) ''अपने होने को अप्रकाशित करता हुआ'' को पढ़कर उनकी परिपक्व मानसिकता को समझा जा सकता है। इस कविता में कवि की बौद्धिकता उसको लिये-दिये जन समूह के सागर में कूद जाती है

और उसकी नमकीन लहरें उसकी आँखों को जला रही हैं। आगे की पंक्तियों में कवि कहते हैं कि कविताएँ मुझे पीस कर, मुझे सीझ कर कौन सी रंगत उभारना चाहती हैं कौन सी खुशबू उड़ाना चाहती हैं? अर्थात् कवि का जीवन संघर्ष बौद्धिकता की चासनी में घुलकर एक रूपाकार लेने ही वाला है। कविता की प्रथमतः कुछ पंक्ति इस प्रकार है:-

''किताबों का स्थापत्य
एक पन्ना हिला और भहरा कर सब अक्षर
गिर पड़े मुझे लिये-दिये
जब समूह के
सागर में

इसी कविता की कुछ आगे की पंक्ति इस प्रकार है:-

''किताबें अपनी जिल्दों में बाँध-बाँध दे रही हैं
मुझे पीस कर, मुझे सीझ कर कौन-सी रंगत
उभारना चाहती है कौन-सी खुशबू उड़ाना चाहती है?

कवि इस पूरी कविता में अपने संघर्ष को जन समूह का संघर्ष बताते हुए उसमें एक तीक्ष्ण विचारधारा एवं बौद्धिकता का घोल मिलाते हुए कला को भी स्पर्श करते हुए सहज बोध को भी शामिल करते हुए अपने जागरण का एहसास कराना चाहता है। यह कविता कुछ हद तक मुक्तिबोध की कविता 'ब्रह्मराक्षस' के भीतर की बौद्धिक बेचैनी की याद दिलाती है। यह एक लम्बी कविता है। इस कविता का अन्तिम हिस्सा कुछ इस प्रकार है:-

''बच्चे! बच्चे! मैंने सुना मैं कह रहा था
अपनी वयस्कता से डरा हुआ
या अपने औसतपन से परेशान,
पर वे बच्चे न नंगे थे न खाली पेट
न उन्होंने खाई थी कभी मार
वे सपनों में थे
नींद के चोर-दरवाजे से
शब्दों में आते हुए शब्दों में जाते हुए
एक नामर्द गुस्से में बलखाती कवियाती पीढ़ी के हाथ में

तिनके की तरह इतराते हुए
इधर एक थोपे हुए जागरण में
कर्म का बाजा बजाते हुए
मैं
विचार की तरह छपा, भाव की तरह बिका
कमाई के नाम पर
अपने होने को अप्रकाशित करता हुआ''

इस तरह जब हम दोनों संग्रहों का अवलोकन एक साथ करते हैं तो यह एहसास होता है कि मलयज की कविता के पहले संग्रह से दूसरे संग्रह तक की यात्रा वास्तव में उनके जीवन की ही यात्रा है। मलयज ने भी कविता के कर्म को जिन्दगी के कर्म से अलग नहीं माना। इस तथ्य को उनकी कविताएँ देखकर समझा जा सकता है। अपने पहले संग्रह ''जख्म पर धूल'' की पहली कविता 'हँसते हुए मेरा अकेलापन' में जहाँ कवि एक शिशु भ्रूण की तरह दिखता है जो विकास की प्रक्रिया में है लेकिन अभी भी उसकी उर्जा में कोई कमी नहीं है लेकिन उसके लिए वह आश्रित है। इसी कारण से वह हकला-हकला कर भी चीजों से चीजों को जोड़ने में लगा है पर शिशु भ्रूण के कारण ही दिशासूचक तख्तियों पर चुप्पी पुती हुई है। वहीं दूसरी संग्रह की अन्तिम कविता 'अपने होने को अप्रकाशित करता हुआ' तक कवि अपनी बौद्धिकता को लिये-दिये जन समूह के सागर में ही कूद जाता है, जहाँ उस सागर की नमकीन लहरें उसकी आँखों को जला रही हैं। फिर भी कवि अपने आत्म संघर्ष को जन समूह के संघर्ष में तब्दील करने को बेचैन है, और अपने जागरण का एहसास भी कराना चाहता है। जहाँ तक मलयज की कविताओं के शिल्प विधान की बात है तो प्रथम संग्रह की कविताओं पर शमशेर के काव्य शिल्प का प्रभाव कुछ हद तक देखा जा सकता है। वहीं दूसरी संग्रह में आते-आते उनकी कविताओं पर मुक्तिबोध के काव्य शिल्प की रंगत दिखती है। मलयज की कविताओं में शब्द चयन एवं बिम्ब विधान अपनी मौलिकता एवं कसाव को लिए हुए है। मलयज की कविताओं में चीख, नंगापन, जमीन, क्रान्ति, चिड़ियाँ, रंग, नाटक, धुएँ, मूर्त्त, अमूर्त्त आदि-आदि शब्द ज्यादा प्रयोग किए गए हैं। भाषा में एक सहज प्रवाह एवं सजीवता दिखती है।

इसलिए मलयज के ही शब्दों में:-

''उत्कृष्ट रचना अनुभव का एक संश्लिष्ट और समग्र प्रभाव छोड़ती है, उसे ही वह रचती है, उसे ही सफे में पाती है और उसे ही पाठक को देती है।''

## संदर्भ सूची

1. नामवर सिंह (संपादक), मलयज की डायरी - खंड-1, 2, 3 एवं 4, वाणी प्रकाशन
2. मलयज, जख्म पर धूल (कविता संग्रह), 1971, रचना प्रकाशन
3. मलयज, अपने होने को अप्रकाशित करता हुआ (कविता संग्रह), 1980, संभावना प्रकाशन
4. विजय कुमार, भारतीय साहित्य के निर्माता/मलयज 2006



अरबिन्द कुमार, निर्मल निकुंज, कनाज भवन के पीछे, शिवपुरी, पटना, पिन कोड-800023, फोन-9006331774

कोलंबिया के नोवल प्राइज विजेता साहित्यकार गैब्रियल गार्सिया मार्केज का मैक्सिको में निधन हो गया। मार्केज 87 साल के थे। स्पेनिश भाषा के महान लेखक मार्केज को उनकी महान कृति **'ए हंड्रेड ईयर्स ऑफ सॉलीट्यूड'** के लिए जाना जाता है।

मार्केज के इस उपन्यास की सन् 1967 में 30 मिलियन से भी ज्यादा प्रतियाँ बिकीं। उन्हें सन् 1982 में साहित्य के लिए नोबल पुरस्कार दिया गया। मार्केज पिछले कुछ समय से बीमार चल रहे थे। गैब्रियल गार्सिया मार्केज का जन्म 6 मार्च 1928 को कोलंबिया के अराकाटका शहर में हुआ था। मार्केज ने कानून की पढ़ाई छोड़कर पत्रकारिता को अपना पेशा बनाया।

मार्केज का उपन्यास 'ए हंड्रेड ईयर्स ऑफ सॉलीट्यूड' का 30 से भी ज्यादा भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। यह उपन्यास लिखने का ख्याल मार्केज के दिमाग में साल 1965 में आया और अगले एक साल में उन्होंने इसे पूरा कर लिया।

✍ रामदरश मिश्र

# जाड़ा : दो कविताएँ

## एक

माघ की ठंडी हवाएँ डंक मार रही हैं,
गर्म कपड़ों के भीतर भी तन घरघरा रहा है।
स्तब्ध से खड़े हैं फूलों के पौधे
मैं धूप की प्रतीक्षा में टहल रहा हूँ गेलरी में।
अरे वाह!
देखा एक पौधे के सिर पर
पहला-पहला फूल हँस रहा है,
मुझे एकाएक लगा कि
दिन में दूसरा दिन उग आया है
जिसमें बसंत की आहट सुनाई दे रही है।

## दो

सुबह-सुबह
अलाव के पास बैठा हुआ मैं
चाय पी रहा हूँ,
और कोस रहा हूँ इस मनहूस ढंडे मौसम को
जिसने तन की गति
और मन की चेतना को स्तब्ध कर रखी है।
एकाएक सामने देखता हूँ
चिड़ियाँ मस्ती से पंख फड़फड़ा-फड़फड़ा कर
नहा रही है उनके पीने के लिए रखे हुए पानी में
और गा रही है विविध स्वरों में।
गिलहरियाँ चिकचिक करती हुई
पेड़ों पर दौड़ रही हैं, खेल रही हैं।
गमलों में लगाए गए पौधों में
एक नई चमक दिखाई पड़ रही है
लगता है अब फूले, अब फूले
मैं अपने पर शर्मिंदा हो उठता हूँ।

✍ रामदरश मिश्र

# आदमी होने की पहचान

मैं लिखता हूँ तो
कोई साहित्य सिद्धांत मेरे सामने नहीं होता,
होता है अपना और आसपास का जिया हुआ जीवन
और उस जीवन से निकली हुई भाषा।
आपका साहित्यशास्त्र
अपने को इसके अनुकूल पाता है तो पा ले,
नहीं तो मसीहा बने रहने के लिए
संध्या-बहस करते रहिए दूसरों की भाषा में।
मेरी रचनाएँ
जैसी भी हैं, मेरी हैं।
वे चुपचाप पहुँचती रहेंगी उन तक
इनमें जिनका दर्द बोलता है,
जिनका राग गूँजता है,
जिनका संघर्ष कसमसाता है,
जिनके सपनों के पंख फड़फड़ाते हैं,
जिनके आसपास के खुले विश्व में व्याप्त
ऋतुओं की विविध रंग कथाएँ हैं।
आप पता नहीं कल कहाँ होंगे,
लेकिन मेरी रचनाएँ तो कल भी पहुँचती रहेंगी
जहाँ पहुँचना होगा,
क्योंकि वे शुष्क सिद्धांत नहीं हैं,
अंतर के छोटे-बड़े गान हैं
यानी कि आदमी के आदमी होने की पहचान हैं।

आर–38, वाणी विहार, उत्तम नगर, दिल्ली–110059

✍ जयप्रकाश मानस

# नदी

नदी
हमारे सपनों में गुनगुनाती है अंतहीन
लोकगीत।
गीतों में गमकते हैं
कछारी माटी वाले हमारे सपने
पहुँचाती है पुरखों तक
अंजुरी भर कुशलक्षेम
दोने भर रोशनी।

हमारी बहू-बेटियों की मनौतियों की
निर्मल चिट्ठी के लिए
जनम-जनम बनती है डाकिया,
पूछती फिरती है सही-सही पता
बाधाओं के पहाड़ लांघकर
नदी अन्न के भीतर पैठकर पहुँचती है
हमारे जीवन में
अथाह ऊर्जा के साथ।

सभी के काम पर गुम हो जाने के बाद भी
बच्चों के आसपास रहती है कोई
तो
वह नदी ही है माँ की तरह।
हमारे बच्चे अनाथ हुए बिना
रचते रहेंगे दोनों तटों पर गाँव,
गाँव की दुनिया में मेले
जब तक उमड़ती रहेगी नदी
उनमें सतत।

◈◈◈

✍ जयप्रकाश मानस

# चिट्ठी : दो कविताएँ

## एक

देखते ही देखते
खतरा मँडराने लगा,
देखते ही देखते
अहिंसक
एक-एक कर
तब्दील हो गए जानवरों में।
लगा जैसे समय
आग का पर्वत हो,
लगा जैसे
भोला-भाला मन देकर
ईश्वर ने किया हो सबसे बड़ा
पाप,
क्यों दीख पड़ी
सुनहरे शब्दों की चिट्ठी
लड़की की नई किताब में।

◈◈◈

## दो

कविता में महक उठता बसंत
पुतलियों से झाँकने लगता
सुर्ख सूरज,
पंखुरियों में बिखर गया जीवन।
हत्या से लौटा हुआ मन
तलाशता वनांचल का
आदिम लोकराग,
क्यों करते पृथ्वी में स्वर्ग की तलाश
मिल गई होती काश
उनकी एकाध चिट्ठी।

◈◈◈

## शिखर पर

लाँघनी पड़ती है
पगडंडी
बगैर लहूलुहान पाँवों से
अकेले ही
खूंखार जंगल
दुर्गम पहाड़ियाँ
अँधेरी गुफाएँ
प्राणघाती घाटियाँ
यूँ ही कोई
नहीं पहुँच जाता शिखर पर।

◈◈◈

✍ विशुद्धानंद

# अनायास

अरबों-खरबों के घोटालों की
नींव पर खड़ी,
चूमती आसमान की बुलंदियों को
उपभोक्तावाद की बुलंद इमारतें।
बिखेरती छटाएँ
अभिजात्यता की चकाचौंध रौशनी,
आतंकित करने लगी हैं
मेरे चिंतन की सहजता को अनायास।

देखता हूँ जब
अस्पताल के किसी जेनरल वार्ड के
कोने में,
कसाई के पंजों में जकड़ी
किसी कातर बकरी की आँखों जैसी
विवशता लिये,
पैसों की किल्लत से अधमरी
अपने 'सत्यवान' के जीवन की आशा
में,
डाक्टरों से गुहार लगाती किसी
'सावित्री' को,
तो आंदोलित होने लगती है
मेरी 'प्रबुद्धता' अनायास।

सौंदर्यीकरण के दूत
जब निकलते हैं आधीरात को
सड़कों पर,
बुलडोजरों, हरवा-हथियारों से लैस,
जब अचानक उजड़ जाता है
अपार्टमेंटों के लिए झोपड़ीवासियों का
अपना स्वर्ग,
जब माँ की फुफती से चिपट कर
कच्ची नींद से जागे चीत्कार करते
बच्चे
सुनते हैं बाप और माँ का निरर्थक
गिड़गिड़ाना,
जब जनता के सेवक
बन जाते हैं जनता के लिए 'यमदूत'
तो इस प्रापंचिक व्यवस्था के विरुद्ध
होने लगती है 'हिंसक',
मेरी 'अहिंसक' बुद्धि भी अनायास।।

◈◈◈

● डॉ० ध्रुव कुमार

# संस्कार

"मुझे घर लौटने में देरी होगी। ऑफिस में काम ज्यादा है। और हाँ सुनो, तुम्हारे पास कुछ रुपये होंगे? यही कोई आठ-दस हजार? घर लौटते ही दे देना।"

फोन पर सतीश ने शाम को जब निशा से हड़बड़ी में ये बातें कही तो उसने सोचा रुपयों की उन्हें सख्त जरूरत होगी। आलमारी में देखा, रुपये थे।

रात साढ़े दस बजे घर लौटते ही सतीश ने रुपयों के बारे में पूछा और रुपये मिलते ही पिताजी के कमरे में दाखिल हो गया। सतीश पिताजी को रुपये देकर कह रहे थे- "जरूरत पड़ने पर और मंगा लीजिएगा।"

बाबूजी को सुबह गाँव लौटना है, निशा को यह पता था। सतीश ने फोन पर यदि कहा होता तो पैसे मैं भी बाबूजी को दे सकती थी, फिर सतीश ने गोपनीयता क्यों बरती? क्या उसे मुझ पर भरोसा नहीं था। निशा यह सोच-सोच कर परेशान थी और नाराज भी। खाने के टेबल पर भले ही वह खामोश रही, लेकिन विस्तर पर कमरे में लेटते ही निशा ने सतीश से यह पूछ ही लिया।

तुम एक आदर्श बहू हो और तुम शाम को ही रुपये बाबूजी को जरूर दे देती, लेकिन तुमसे रुपये लेने में बाबूजी को असुविधा होती। फर्ज करो कि तुम्हारे माता-पिता को जरूरत पड़ने पर वह किससे रुपये लेना पंसद करेंगे- तुमसे या मुझसे? मेरे बजाए वह तुमसे रुपये लेते समय ज्यादा सहज होंगे।

बच्चों पर माता-पिता का हक होता है, बहू और दामाद पर नहीं। हमें रिश्तों के इस फर्क को समझना चाहिए और सामने वाले की भावनाओं को भी। मैंने यही सोच कर बाबूजी को तुमसे लेकर खुद रुपये दिए। तुम इसे अन्यथा मत लो।

सतीश के जवाब से निशा की नाराजगी और उलझन धीरे-धीरे घटने लगी थी। वह अपने संस्कारवान पति के आदर्श पुत्र के इस रूप पर मुग्ध हो चुकी थी।

◈ ◈ ◈

पी० डी० लेन, महेन्द्रू, पटना-800006, फोन: 9304455515

# *तुम्हारी याद*

● **श्रीयुत् जानकीवल्लभ शास्त्री**

आज इस नीरव निशा में
मालती की सुरभि-सी आई तुम्हारी याद;
गुदगुदाती इस हवा-सी
पुलक-पंखड़ियाँ जगाती सखि, तुम्हारी याद!

जब प्रथम हम थे मिले,
परस-रस समभाव से था व्याप्त होता
अंग-अंग तरंग में!

अकारण फिर-फिर समीरण
छेड़ता झिरझिर तुम्हारे-
असाधारण सुरभि-कच-विस्तार को
जो थे छहरते,
लहरते, उन्नत हृदय पर,
स्वर्ण-हीरक-हार-
भर-भर अपार उमंग में।

नयन नर्गिस-से खिले,
झलक किसकी देखते निर्मल पलक में?
झिलमिलाती पुतलियों में?
चाँद का मधु पी रही कर बंद पाँखें-
मधुकरी-सी, गंध से निष्पंद आँखों में?
देखता जब मैं तुम्हारी क्रांति,
शांति-पूर्ण विभूति यौवन की कि जैसे-
रज उतन-गण मोतियों की,
चंद्र-चुंबक स्फटिक सौध कनक कलस को-
कर रही वलयित स्फुरित परमाणुओं से!

या कि अभ्रक-चूर्ण, कुंकुम या कुसुम-कण-
कनक-पिंग पराग-से अनुराग के क्षण,
उड़ रहे पाटल-पटल मेरे हृदय से,
कमल-कोमल प्राण से,
अनजान युग-युग तक बिछड़ कर,
उमड़ कर हों जुड़े रहे!
तुम मुसकुरातीं
आत्म-अर्पण कर; समर्पण कर स्वयं को;
फूले-से अरमान को,
अभिमान- चुभते शूल-से अपने 'अहं' को;
सहज, सरल स्वभाव का सुख प्राप्त करने,-
-नि:स्त्र होकर विश्व भर को आप्त करने-
की संजोती कामनाएँ!
तुम मिलीं जैसे तने से टहनियाँ।
पल्लव नवल सुकुमार
मुकुल-उभार
सौरभ-सार से लचती, लजीली टहनियाँ!

तब थपथपाया-
मैंने मलय का पवन बन-
उन्मन, तुम्हारा मन, तुम्हारा तन तुनुक, झुक,
त्यों उतर कर भूमि पर-
(कुंतल-सघन घन फैलकर जिसको बनाते-से गगन थे!)
हृदय को मानो बना मस्तिक, भावना को शुद्ध बुद्धि सचेत,
पैर पर मेरे रखा सिर,
स्वेद-युक्त ललाट,
सजल पलकें,
मुसकुराते अधर,
वर्ण-वर्ण गला हुआ ज्यों स्वर्ण-
बन रहा उन्मद हृदय का तार हार भले-भले!

फँसता गला,
स्वर काँपता-सा बिखरता अविराम विरच विराम!
बोलीं तुम
(कि कलिका खोलती ज्यों मदिर परिमल-पर,
प्रथमतम घोलती मधु) - ..... प्यार!
पर मन मार, मानो हार अपने-आपसे,
लाचार जग-संसार से,
सँभलीं- 'करें स्वीकार ..... मेरा नमस्कार ... प्रणाम।'

.....

आज हास्य-रुदन-हिडोले झूलता जीवन हमारा;
तुम किनारा : मैं किनारा
बह रहा जीवन हमारा छलक दोनों ओर!
शिशिर-संध्या को खड़ी खिड़की - सहारे
सींखचों के पार गिनतीं अगिन तारे।
औ' वसंत-प्रभात में जलजात सुंदर-
- भर किरण-कण प्राण में,
- अलि-गान में खिलते, निखरते,
निरख कर तुम ले रही होंगी उसाँसें!

इधर मेरे मन-सर-से प्राण पर से
तैर कर स्वर सप्त, जैसे
सिसकियों में फूल पड़ते हैं, तुम्हारे :-
"प्यारे, जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें,
अरुण-पंख तरुण-किरण खड़ी, खोल रही द्वार!"

◈ ◈ ◈

# दर्द हमें भी होता है

✍ अभिजीत मिश्र

ऐ मेरे पड़ोसी बँट गए हम दोनों
दर्द हमें भी हुआ
दर्द तुम्हें भी हुआ।

आतंक के बन्दूक से निकली गोलियाँ
किस मजहब को लगी
ना मुझे मालूम / ना तुझे मालूम।
जब 'ट्वीन टावर' पर गिराया जहाज
विश्व में गूंजी आतंक की आवाज,
किस मजहब का इन्सान मरा
ना मुझे अहसास
ना तुझे अहसास।
दर्द अमरिकी वासियों को भी हुआ
दर्द हमें भी हुआ
दर्द तुम्हें भी हुआ।

इस जख्म का इलाज
न है प्रतिकार,
न है आतंकवाद,
न है दंगा-फसाद।
वह वक्त का है एक एहसास
समय का चक्रवात जब चलता है
मानवता यूँ हीं पिसती है।

दर्द हमें भी होता है
दर्द तुम्हें भी होता है।

आज वक्त फिर लौट कर आया है
क्यूँ जिन्दगी को
मौत के गले
लगा रहे हो?
जरा दोस्ती का मलहम रख कर देखो
मजा हमें भी आएगा
मजा तुम्हें भी आएगा।
दर्द यूँ हीं भाग जाएगा,
मान भी जाओ मेरे पड़ोसी।
वक्त कभी रुकता नहीं,
वक्त कभी झुकता नहीं
और
एकता से बनाया गया जो रिश्ता है
वह रिश्ता
कभी टूटता नहीं।

◈ ◈ ◈

## कवि सम्मेलन/स्मृति दिवस

**पटना/27-04-2014**

सुप्रतिष्ठ साहित्यकार और कुशल अभियंता तथा अवर अभियंता संघ, बिहार के पूर्व महामंत्री डॉ० भोला प्रसाद सिंह 'तोमर' के स्मृति दिवस के अवसर पर साहित्यिक संस्था आनंदाश्रम के तत्त्वावधान में सुप्रतिष्ठित कवि सत्यनारायण की अध्यक्षता में कवि सम्मेलन हुआ, जिसका संचालन सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री विशुद्धानंद ने किया। सर्वप्रथम अवर अभियंता संघ, बिहार द्वारा अभि० अतुल कुमार वर्णवाल की अध्यक्षता में श्रद्धांजलि सभा का आयोजित किया गया जिसमें अभि० राम शंकर ओझा, सीताराम शर्मा, अरुण कुमार, हृषीकेश पाठक, पी०सी०पी० यादव, कुमार धनंजय प्रसाद सिंह आदि द्वारा डॉ० तोमर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डाला गया।

कवि-सम्मेलन में श्री भगवती प्रसाद द्विवेदी, राज कुमार प्रेमी, डॉ० कलानाथ मिश्र, डॉ० शिवनारायण, राकेश प्रियदर्शी, डॉ० मेहता नागेन्द्र, बाँके बिहारी साव, डॉ० भावना शेखर, निविड़ शिवपुत्र, आर० पी० घायल, आदि कवियों द्वारा अपनी कविताओं से श्रोताओं को भावविभोर किया गया। आगत कवियों का स्वागत हृषीकेश पाठक ने किया और धन्यवादज्ञापन संघ के महामंत्री अभि० राम शंकर ओझा के द्वारा किया गया।

## आगामी अंक में विशेष

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद तिवारी हिंदी के सुप्रसिद्ध रचनाकार हैं। इन्होंने हिंदी साहित्य की कई विधाओं पर अपनी लेखनी चलाई। इनकी रचनाओं का कई भारतीय एवं विदेशी भाषाओं में अनुवाद भी हो चुका है। इन्हें साहित्य भूषण, पुश्किन सम्मान, सरस्वती सम्मान, पं. बृजलाल द्विवेदी स्मृति अखिल भारतीय साहित्यिक पत्रकारिता सम्मान, व्यास सम्मान आदि कई प्रकार के सम्मानों एवं पुरस्कारों से नवाजा जा चुका है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का जन्म 20 जून, 1940 को हुआ था। उनके 74वें जन्मदिवस पर 'साहित्य यात्रा' का आगामी अंक उन्ही पर केन्द्रित होगा। जिसमें विशेष रूप से उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व से संबंधित रचनाओं को प्रस्तुत किया जाएगा।